# हिन्दी की प्रगतिवादी कविता

डॉ० सुरेन्द्र प्रसाद

चित्रलेखा प्रकाशन
170, अलोपी बाग, इलाहाबाद-211006

प्रथम संस्करण : १९८५

मूल्य : ८०.००

---

प्रकाशक : चित्रलेखा प्रकाशन, १७० कलोपी बाग, इलाहाबाद-६

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग केन्द्र, पोस्तीकोठी, कीडगंज, इलाहाबाद-३

डॉ० अवधेश्वर 'अरुण' को

क्रम

प्रथम प्रकरण

# विषय-प्रवेश और पृष्ठभूमि

## प्रगतिवादी चेतना का स्वरूप

प्रगतिवाद हिन्दी में वह साहित्यिक आन्दोलन है जो [illegible] और [illegible]-वादी जीवन-दर्शन की प्रेरणा से प्रादुर्भूत हुआ। इस आन्दोलन के [illegible] के स्थान पर यथार्थवाद को प्रतिष्ठित किया और [illegible] स्वीकृति प्रदान कराई। यह [illegible], वैज्ञानिक प्रगति, जनवादी आन्दोलन और [illegible] सफलता से प्रभावित-प्रेरित होकर [illegible] के रूप में अवतीर्ण हुआ। छायावाद में जीवन के [illegible]; प्रगतिवाद कल्पना को प्रतिगामी घोषित करके [illegible] लेकर उपस्थित हुआ। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि [illegible] का विद्रोह प्रगतिवाद का मूल स्वर है और [illegible] मूल उद्देश्य। यह सर्वहारा वर्ग का [illegible] है और जीवन के [illegible] का [illegible] करता है।

के नाम पर चलाया गया वह आन्दोलन है, जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तु-सत्य को उत्तर छायावाद काल मे प्रश्रय मिला और जिसने सर्वप्रथम यथार्थवाद की ओर समस्त साहित्यिक चेतना को अग्रसर होने की प्रेरणा दी।" (हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४६८) श्री धर्मवीर भारती के अनुसार "रूढ़ अर्थों में प्रगतिवाद साहित्य की उस दिशा विशेष को कहते है, जो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के अनुसार साहित्य के लिए निर्देशित की गई है।[1] वस्तु-सत्य को भुलाकर कल्पनालोक मे विहार करना प्रगतिवाद नही जानता—इसकी ओर ध्यान आकर्षित करते हुए प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र लिखते है कि "प्रगति-साहित्य वास्तव की उपेक्षा करके चलना नही चाहता। वह जानता है कि आज मानव-समाज श्रेणियो में विभक्त है। इस श्रेणी-विभक्त समाज मे मनुष्य-मनुष्य के बीच द्वन्द्व चल रहा है।"[2] श्री विश्वम्भर मानव ने प्रगतिवाद को एक साम्प्रदायिक 'वाद' प्रमाणित करने वाले मत की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "प्रगतिवाद युग के सम्बन्ध मे भी इस धोखे में नही रहना चाहिए कि इसमें केवल साम्यवादी विचारधारा का प्रचार करने वाले कवि होंगे।"[3] इस सम्बन्ध में मैं श्री मन्मथ नाथ गुप्त के दृष्टिकोण को भी उद्धृत करना चाहूँगा। वे लिखते हैं—एक पार्टी के नाते कम्युनिष्ट पार्टी के लिए यह स्वाभाविक था कि वह जिस भी क्षेत्र मे जो भी आन्दोलन चले, उसको अपने दल के लिए काम में लगाने की चेष्टा करे। पर इसका अर्थ यह नही कि प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन कम्युनिस्ट पार्टी का आन्दोलन है। प्रेमचन्द किसी पार्टी के नही थे, पर वे इस समय तक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील लेखक बने हुए है। इस कारण प्रगतिशील साहित्य से इस आधार पर बिदकना कि वह कम्युनिस्ट साहित्य है, बिलकुल ऊल-जलूल बात है, और ऐसा करके हम कम्युनिस्टों को बेकार वह महत्त्व देते हैं जो किसी भी तरह उनको प्राप्य नही है।" (प्रगतिवाद की रूपरेखा—पृ० -१) यहाँ मन्मथ नाथ गुप्त मार्क्सवाद का उल्लेख करना पसंद नही करते और प्रगतिवादी आन्दोलन को भारतीय राजनीति एवं राष्ट्रीय समझ की उपज मानकर चलते है।

वस्तुतः राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के क्रम मे विदेशी शासन, देशी जमींदारों एवं उद्योगपतियो की शोषणप्रियता के विरुद्ध स्वाभाविक ढंग से प्रगतिवाद युगधर्म बनकर ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में उपस्थित हुआ, जो प्रबुद्ध मध्यवर्गीय लेखकों

---

१. प्रगतिवाद : एक समीक्षा, पृ० ७
२. साहित्य की वर्तमान धारा, पृ० स० १५०
३. साहित्य-सन्देश, अंक ७-८; जनवरी-फरवरी, '५४, पृ० २५७

की कृतियों में अनायास अभिव्यक्ति पाने लगा। तो भी इस पर मार्क्सवाद के प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता। श्री मन्मथनाथ गुप्त भी वर्ग संघर्ष की चर्चा कर ही बैठते हैं। उनके अनुसार "प्रगतिवाद की विशेषता यह है कि मनुष्य को अपना कच्चा माल मानने पर भी वह भावुकतामय मानवतावाद में बहकर वर्ग-संघर्ष के प्रति अन्धा नहीं है, केवल इतना ही नहीं, वह इस संघर्ष में क्रान्तिकारी वर्ग की ओर से हाथ बढाता है।" (प्रगतिवाद की रूपरेखी, चुनौती, पृ० २) श्री त्रिलोचन पाण्डेय मार्क्सवादी प्रेरणा को स्वीकारते हुए विवेचन प्रस्तुत करते है कि "प्रगतिवाद का आधार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कहा जा सकता है। वह आत्मा की निरपेक्ष सत्ता नहीं मानता, विश्व मे केवल आधिभौतिक सत्ता मानता है। इसलिए वह साहित्य को वैयक्तिक चेतना न मानकर सामूहिक चेतना मानता है। वह वर्ग-सघर्ष की भावना को तीव्र करता है, सामन्ती बुर्जुवा-वर्ग से उसे कोई सहानुभूति नहीं।' (साहित्य-संदेश, अंक ७-८, जनवरी-फरवरी, १९५४) डॉ० श्यामनन्दन किशोर गौण रूप से मार्क्सवादी प्रभाव को स्वीकार करते हुए प्रगतिवाद को एक विश्वव्यापी असंतोष की अभिव्यक्ति मानते हैं। वे कहते हैं—"मेरी दृष्टि में भारत का प्रगतिवाद पूर्णतः रूस या मार्क्स की देन नहीं है। एक विश्वव्यापी असंतोष वाणी पाने को छटपटा रहा था। ब्रिटिश शासन और समसामयिक देशी परिस्थितियों के कारण इस देश की मिट्टी मे भी असतोष फैलता जा रहा था। मार्क्सवादी विचारधारा ने इसी असंतोष और विद्रोह के भाव को स्पष्ट, ठोस और जीवन्त दर्शन देकर प्रगतिशील बनाया।"[1] मार्क्सवाद के प्रभाव की पुष्टि करते हुए श्री शिवकुमार मिश्र लिखते है, "हम प्रगतिवादी चेतना के गहरे मार्क्सवादी समाजबोध को स्वीकार करते हैं। मार्क्सवाद समाजवाद ने प्रगतिवादी चेतना को न केवल गहराई तथा दीप्ति प्रदान की है, उसे ठोस वैज्ञानिक तथा जनवादी भी बनाया है।" (प्रगतिवाद, विषय-प्रवेश, पृ० २१-२२) श्री इन्द्रनाथ मदान ने अपने द्वारा संपादित 'कविता और कविता' मे आधुनिक कविता पर विचार करते हुए लिखा है कि "प्रगतिवाद का प्रेरणास्रोत मार्क्सवादी जीवन-दर्शन है, जिसके अनुसार जीवन तथा जगत की व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर की जाती है। इसी जीवन-दृष्टि से प्रेरित प्रगतिवादी काव्य की विशेषताओं को पंजीकृत भी किया गया है—जैसे इसमे जन-जीवन की अभिव्यक्ति है, हताश-भावना का विरोध है, धरती की गरिमा है, शोषक के प्रति क्रोध तथा घृणा की अभिव्यंजना है, दीन-भाव का तिरस्कार है, व्यंग का महत्व है, वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए सघर्ष है, मरणशील एवं गलनशील सामंती तथा पूंजीवादी संस्कृति का खण्डन है, कल्पना-

---

१. आधुनिक साहित्य, शोधात्मक निष्कर्ष, पृ० २८-२९।

शील छायावादी तथा व्यक्तिवादी प्रयोगवादी काव्य की आलोचना है, स्वस्थ तथा विकासमान मूल्यों का मण्डन है।" (कविता और कविता, पृष्ठ २१)

'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' (चतुर्दश भाग) में स्पष्ट कहा गया है कि "यह नाम उस काव्यधारा का है जो मार्क्सवादी दर्शन के आलोक मे सामाजिक चेतना और भावबोध को अपना कथ्य बनाकर चली। प्रगतिवादी काव्य के उद्भव और विकास में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ तो सहायक हुई ही, साथ ही साथ छायावाद की जीवनशून्य होती हुई व्यक्तिवादी वायवी काव्यधारा की प्रतिक्रिया भी उसमे निहित थी।" (हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास—(चतुर्दश भाग)—पृ० सं० १२४)

ऐसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" के संशोधित एवं प्रवधित संस्करण मे भी प्रगतिवाद की चर्चा नहीं की है, किन्तु आधुनिक युग के तृतीय उत्थान के प्रसंग में कवियों की वाणी मे एक नये प्रभाव को नोट करते हुए उन्होंने लिखा कि "अब जो आन्दोलन चले वे सामान्य जन-समुदायों को भी साथ लेकर चले। इसमे उनके भीतर अधिक आवेश और बल का संचार हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि आंदोलन संसार के और भागों में चलने वाले आंदोलनों के मेल में लाए गए, जिससे ये क्षोम की एक सार्वभौम धारा की शाखाओं से प्रतीत हुए। वर्तमान सभ्यता और लोक की घोर आर्थिक विषमता से जो असतोष का ऊँचा स्वर पश्चिम में उठा उसकी गूँज यहाँ भी पहुँची। दूसरे देशों का धन खींचने के लिये योरप मे महायंत्र प्रवर्तन का जो क्रम चला उससे पूजी लगाने वाले थोड़े से लोगों के पास तो अपार धनराशि इकट्ठी होने लगी पर अधिकांश श्रमजीवी जनता के लिए भोजन वस्त्र मिलना भी कठिन हो गया। अतः एक ओर तो योरप में मशीन सभ्यता के विरुद्ध टालस्टाय की धर्मबुद्धि जगाने वाली वाणी सुनाई पड़ी, जिसका भारतीय अनुवाद गांधी जी ने किया; दूसरी ओर इस घोर आर्थिक विषमता की ओर प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद और समाजवाद नामक सिद्धांत चले जिन्होंने रूस में अत्यन्त उग्र रूप धारण करके भारी उलटफेर कर दिया।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४३८)

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिवाद के उदय की परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए लिखा था कि "रूस की सफलता, कम्यूनिज्म के साहित्य के प्रचार और अपने देश के पूँजीपतियों के आचरण से उन दिनों सोचने समझने वालों के मन में नयी आशंका और नये उपायों की बात आयी। धीरे-धीरे राजनीति मे वामपन्थी विचारों का जोर बढ़ता गया। उस समय तक देश में विदेशी शासन का जबर्दस्त

दबाव था, इसलिए मतभेद उठ-उठकर दब जाता था। साहित्यकारों में भी हलचल दिखाई दी। वामपन्थ के साहित्यकारों ने संघटित होकर १६३६ ई० मे एक प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की।" इसी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने प्रगतिवाद के संबंध में अपने विचार को स्पष्ट किया और कहा कि "प्रगतिवादी साहित्य मार्क्स के प्रचारित तत्वदर्शन पर आधारित है।.........प्रगतिवादी साहित्यिक समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नही मानता, किसी भी वस्तु को रहस्य और अज्ञेय नही समझता तथा किसी अज्ञेय-अलक्ष्य चिरन्तन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नही मानता। वह समाज को बदल देने में विश्वास करता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य प्रयत्न करके इस समाज को ऐसा बना सकता है जिसमे शोपको और शोषितों के वर्ग न हो और मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन बिता सके।" (हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, पृ० २८६)

तात्पर्य यह है कि प्रगतिवाद पर विचार करते समय लगभग सभी विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि प्रगतिवाद समाजवाद की परिधि में जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने का आग्रही है। यह जीवन से पलायन का नहीं, अपितु जीवन की स्वीकृति का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। यह पराजयवाद और नियतिवाद के विरुद्ध जगत और जीवन की जय का उद्‌घोष है। इसमें प्रगति को अवरुद्ध करने वाले रूढ़िग्रस्त प्राचीन के प्रति नवीन का विद्रोह बोलता है। ऐसे पूर्व की रचनाओ में भी विद्रोह का स्वर था, पराजय और पलायन के स्थान पर जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया था एव स्वतन्त्रता और भारतीय समाज की हार्दिक कामनाएँ अभिव्यक्त हुई थी, किन्तु शोषक और शोषित के संघर्ष मे शोषित का पक्ष लेकर क्रान्ति का आह्वान करना एवं संघर्ष मे तीव्रता उत्पन्न कर शोषित की विजय और वर्गहीन समाज की स्थापना का स्वप्न देखना हमे मार्क्सवाद ने ही सिखलाया। इसी मार्क्सवाद ने हमारे साहित्य की गतिशील धारा मे समाकर प्रगतिवाद के प्रपात का निर्माण किया। अतः प्रगतिवाद मे मार्क्सवाद-समाजवाद की प्रेरणा को अस्वीकार नही किया जा सकता। यद्यपि प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम घोषणा-पत्र मे कहीं भी मार्क्सवाद का उल्लेख नही है, फिर भी उसे पढने पर मार्क्सवाद की ओर संकेत प्राप्त होता है। प्रथम घोषणा-पत्र इस प्रकार है। (हंसराज रहबर की पुस्तक— 'प्रगतिवाद पुनर्मूल्यांकन' पृष्ठ सं० २५५)।

'भारतीय समाज में बडे-बडे परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारों और विश्वासो की जडें हिलती जा रही हैं और एक नए समाज का जन्म हो रहा है।

भारतीय लेखकों का धर्म है कि वे भारतीय जीवन में पैदा होने वाली क्रान्ति का शब्द और रूप दे और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने मे सहायक हों।

'भारतीय साहित्य की विशेषता यह रही है कि वह जीवन की यथार्थताओं से भागता है और वास्तविकता से मुँह मोड़कर भक्ति और उपासना की शरण में जा छिपा है। नतीजा यह हुआ है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप में भी अर्थ में भी; और आज हमारे साहित्य ने विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया है।'

'हमारे इस संघ का उद्देश्य है कि साहित्य और दूसरी कलाओं को अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकाल कर उन्हे जनता के निकटतम सम्पर्क में लाया जाय, उनमें जीवन और वास्तविकता लायी जायें और वे उस उज्ज्वल भविष्य का मार्ग दिखायें जिसके लिए मानवता इस युग मे संघर्षशील है।

'हम भारतीय संस्कृति की परम्पराओं की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे। हम इसके द्वारा हर उस भावना को व्यक्त करेंगे जो हमारे देश को एक नए और बेहतर जीवन का मार्ग दिखाये। इस काम मे हम अपनी विदेशो की सभ्यता तथा संस्कृति से लाभ उठायेंगे। हम चाहते हैं कि भारत का नया साहित्य जीवन की बुनियादी समस्याओं को अपना विषय बनायें। वे हैं हमारी रोटी की, हमारी दरिद्रता, हमारी सामाजिक अवनति की और हमारी राजनैतिक पराधीनता की समस्याएँ।

'वह सब कुछ जो हमे निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अंधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है। हम उसका विरोध करते हैं। वह सब कुछ जो हममे समीक्षा की प्रवृत्ति लाता है; जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमे कर्मठ बनाता है और हममे संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।

संघ के उद्देश्य ये होंगे—

(१) भारत के तमाम प्रगतिशील लेखकों की संस्थाएँ संगठित करना और साहित्य छापकर अपने उद्देश्यों का प्रचार करना।

(२) प्रगतिशील लेखकों और अनुवादकों को प्रोत्साहित करना और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करके देशवासियों के स्वाधीनता-संग्राम को आगे बढ़ाना।

(३) प्रगतिशील लेखकों की सहायता करना।

(४) स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र विचार की रक्षा करना।

उपर्युक्त घोषणा-पत्र की निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) पुराने विश्वासों को हिलाने वाली क्रान्ति को मुखर करना;

(२) पलायन, भक्ति और उपासना का त्याग; जीवन की यथार्थताओं का स्वागत;

(३) अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से साहित्य का उद्धार और साहित्य को जनता का साहित्य बनाना;

(४) पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों की निर्दयता पूर्वक आलोचना;

(५) जीवन की बुनियादी समस्याओं—रोटी, दरिद्रता, सामाजिक अवनति और राजनैतिक पराधीनता को साहित्य का विषय बनाना;

(६) विदेशों की सभ्यता और संस्कृति से लाभ उठाना;

(७) बुद्धि की कसौटी को स्वीकार करना; तथा

(८) प्रतिक्रियावादियों के विरुद्ध संघर्ष।

ये सारी बातें मार्क्सवाद की पुष्टि करने वाली हैं। अगर कुछ कमी है तो बस केवल दो शब्दों के उल्लेख की। वे दो शब्द हैं—समाजवाद और वर्ग-संघर्ष। इस प्रसंग में भी रूसी समीक्षक लूनाचार्स्की का साहित्य के सम्बन्ध में मार्क्सवादी विचार प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। उन्होंने लिखा है कि—'वह प्रत्येक बात जो सर्वहारा वर्ग के विकास और विजय में सहायक है—अच्छी है, इसके विपरीत जो क्षति पहुँचती हो—बुरी है।' ('Everything that aids the development of the proletariat is good; everything that harms,it is evil.' On literature and Art, पृष्ठ संख्या, ८६)—इस मार्क्सवादी विचार को ध्यान में रखकर जब हम प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम घोषणा-पत्र की समीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि वह घोषणा-पत्र साहित्य-सम्बन्धी मार्क्सवादी दृष्टिकोण की ही अक्षुण्ण व्याख्या है। इस घोषणा-पत्र के दृष्टिकोण से भिन्न यदि कोई मार्क्सवादी साहित्य रचना हुई होगी तो वह साहित्य न होकर मार्क्सवाद का घोषणा-पत्र होगी अथवा कुत्सित समाज-शास्त्र की परिणति मात्र कहलाएगी।

प्रगतिवाद की चेतना के स्वरूप-निर्माण में मार्क्सवाद की विचारधारा के

अतिरिक्त उसका मानवता की हितरक्षा में सतत जागरूकता का संदेश अधिक सहायक सिद्ध हुआ।

मैंने पहले संकेत किया है कि प्रगतिवाद के पूर्व के साहित्य में भी क्रान्ति, समाज-कल्याण और स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष का स्वर मुखरित हुआ। लेकिन उन साहित्यकारों में इस बात की सजगता नहीं थी कि एक समय जब वे जागरूकता का संदेश दे रहे हैं तो दूसरे समय उन्हें पलायन का गीत नहीं गाना चाहिए। उदाहरणस्वरूप श्री जयशंकर प्रसाद की कविता लीजिए। एक स्थल पर वह पलायन का गीत गा रहे हैं—

ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे-धीरे। (पुष्करिणी, पृष्ठ १८०)

उन्हीं के दूसरे गीत की इन पंक्तियों को भी देखिए—

पैरों के नीचे जलधर हों
बिजली से उनका खेल चले;
संकीर्ण कगारों से धुलकर
शत-शत झरने बेमेल चलें;
सन्नाटे में हो विकल पवन
पादप निज पद हो चूम रहे;
तो भी गिरिपथ का अथक पथिक
ऊपर ऊँचे सब झेल चले।

(ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३३)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगतिवाद को स्थापित करने में मार्क्सवाद का महत्वपूर्ण योगदान है। हमारे साहित्य में जितनी भी प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ इधर-उधर बिखरी हुई थीं, उन सबको एक सूत्र में पिरोकर प्रगतिवाद के रूप में उपस्थित करने का श्रेय मार्क्सवादी प्रेरणा को है। हाँ, यह दूसरी बात है कि हमारे प्रगतिवादी साहित्यकार, अपनी कृतियों में इस वाद का पूरा निर्वाह नहीं कर सके।

## 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' का पारस्परिक सम्बन्ध

अभी तक मैंने प्रगतिवाद के स्वरूप-विवेचन में मार्क्सवाद को उसकी अपनी सांप्रदायिक गंध से दूर रखकर उसके प्रभाव को दिखाने का प्रयास किया है। इस प्रयास के क्रम में 'प्रगतिशील' और 'प्रगतिवाद' के परस्पर सम्बन्ध को लेकर कुछ

विद्वानो के विभिन्न दृष्टिकोणों की समीक्षा कर इस विवाद का निराकरण कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऐसे कोई भी महान कृति युग-विशेष के लिए प्रगतिशील दृष्टिकोण ही लेकर उपस्थित होती है। किन्तु वही आगे चलकर युग की प्रगति के साथ मेल बिठाने में असमर्थ हो जाती है। इस दृष्टि से तुलसी का रामचरितमानस भी मध्यकालीन भारत की प्रगतिशील रचना ही मानी जाएगी। लेकिन हिन्दी में छायावाद-युग के पश्चात् समाजवाद के सम्पर्क से जो साहित्यिक प्रवृत्ति देखने को मिली, उसे लोगों ने 'प्रगतिशील' और 'प्रगतिवाद' कहकर पुकारना प्रारम्भ किया। लेकिन कुछ विद्वानो ने प्रगतिवाद को मूलतः मार्क्सवाद से सम्बन्धित बतलाया जबकि प्रगतिशील उनकी दृष्टि मे मार्क्सवादी के अतिरिक्त वे भी कहला सकते है जिनकी रचनाओं में मानवीय चेतना को व्यापक तथा गम्भीर बनाने के गुण वर्तमान है।

*श्री शिवदान सिंह चौहान के अनुसार 'प्रगतिशील' और 'प्रगतिवाद' के बीच* अनिवार्य सम्बन्ध नही है। उनके अनुसार 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' में भेद है, यह स्पष्ट हो जाना चाहिए; अन्यथा गलत शब्दों का प्रचलन जारी रहेगा, आप कहेंगे कुछ और लोग समझेंगे कुछ। प्रगतिशील कविता का जब प्रश्न उठता है, तो उसके पीछे किसी विशेष दार्शनिक 'वाद' की मान्यता का आग्रह नही किया जा सकता। एक प्रगतिशील कवि गांधीवादी भी हो सकता है, मार्क्सवादी भी और द्वैत-अद्वैतवादी भी। मेरा अर्थ है, आज भी जो साहित्य पाठक को स्वय प्रेरणायें देता है, मनो-विकृतियों को उभार कर व्यक्ति को असामाजिक और मानव-द्रोही नही *बनाता, जीवन-संग्राम मे आगे बढने का बल और साहस देता है और मनुष्य की* चेतना को—गहरा, व्यापक और मानवीय बनाता है, हिंसा और द्वेष को नही बढाता और जो वास्तव में जीवन की मार्मिक और सारगर्भित स्थितियों का चित्रण करता है अर्थात् जिसमें कला-सौष्ठव और गहराई है, वह सब प्रगतिशील ही तो है।' (साहित्य सन्देश, प्रगतिवाद का प्रवृत्ति-निरूपण, अंक ७-८, जनवरी-फरवरी १९५४, पृष्ठ संख्या ३)

'''कभी वह प्रगतिवाद को सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी मार्क्सवादी दृष्टिकोण मानते हैं और कभी लिखते हैं कि '''सत्य यह है कि प्रगतिवाद एक विशेष जीवन-दर्शन (मार्क्सवाद) *या दृष्टिकोण का नाम है। इस जीवन-दर्शन या दृष्टिकोण* को मानने-अपनाने वाले अनेक लेखक, कवि, कथाकार, नाटककार और आलोचक है। लेकिन उनकी रचनाओं में न्यूनाधिक दृष्टिसाम्य पाकर ही उनकी कविता को 'प्रगतिवाद' की कविता कहना भ्रामक होगा।'

श्री शिवदान सिंह चौहान के उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रकट होता है कि प्रगतिशील सभी वाद वाले कहला सकते हैं और प्रगतिवादी मार्क्सवादी ही कहा जाएगा। उन भिन्न-भिन्न वाद वालों में गांधीवादी, अद्वैतवादी और द्वैतवादी की चर्चा हुई है।वस्तुतः द्वैतवाद, अद्वैतवाद और गांधीवाद में एक बात की स्पष्ट समानता है कि वे सभी आत्मतत्व की सत्ता में विश्वास रखते हैं। इन सभी 'वादों' के अनुसार भौतिक जगत प्रभु की लीला है अथवा माया है। इन तीनों के नैतिक मूल्य अन्तरात्मा की आवाज पर निर्भर हैं। वे शाश्वतता के कायल और परम्परावाद के पोषक हैं। चूँकि आत्मा अमर है इसलिए उसकी आवाज भी चिरन्तन एवं अपरिवर्तनीय नैतिक मूल्यों को जन्म देती है—यह विश्वास लेकर ये सभी वाद चलते हैं। इसके विपरीत मार्क्सवाद का आधार विज्ञानसम्मत धारणा है, जो पदार्थ को ही अन्यतम सत्ता स्वीकार कर चलता है। इसकी दृष्टि में शाश्वतता और परम्परावाद एक बकवास है। नैतिक धारणाएँ अर्थव्यवस्था के स्वरूप के अनुसार बनती हैं और अर्थव्यवस्था विशेष का अन्तर्विरोध भी नैतिक मान्यताओं को प्रभावित करता है। समाज को आर्थिक समता के लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए वर्ग-संघर्ष को तेज करना इसका मूल मन्त्र है और इसकी खातिर सर्वहारा-वर्ग की पक्षधरता इसकी दृष्टि में अनिवार्य तत्व है। इसके विपरीत गांधीवाद वर्ग सहयोग की नीति पर चलता है जो नीति न केवल नैतिक मूल्यों को परम्परा की जड़ता से जोड़ती है प्रत्युत् शिल्प को भी अर्धसामन्ती रुचियों के गिरफ्त में डाले रखती है।

वस्तुतः गांधीवाद और मार्क्सवाद में शोषण के विनाश के लिए साधन के स्वरूप और उपाय को भी लेकर गहरा मतभेद है। यह गांधीवाद सन् १९२१ में भारतीय क्षितिज पर प्रकट हुआ और दस-बारह साल तक चमक कर प्रभाहीन हो गया। इसके बाद साहित्य में प्रगतिवाद का उदय होता है। (इसकी विस्तृत विवेचना आगे हम राजनीतिक पृष्ठभूमि में करेंगे)। स्पष्ट है कि गांधीवाद की असफलता ही उसके विचार की प्रगतिशीलता के सामने प्रश्नचिह्न बनकर खड़ी हो गई थी।

जहाँ तक अद्वैतवाद-द्वैतवाद का सम्बन्ध है, ये दोनों पुराने पड़ चुके हैं और इनमें विराग और जीवन के प्रति उदासीनता का भाव आज भी है। कोई अद्वैतवादी जिस समय जीवन के संघर्ष में अपना सुर मिलाकर मानवता की विजय का गीत गाने लगता है, उस समय वह अद्वैतवादी नहीं रह जाता। लगभग यही स्थिति द्वैतवादियों की भी है।

शिवदान सिंह चौहान ने प्रगतिशील के सम्बन्ध में जितनी बातें कही हैं उनमें से केवल एक बात—हिंसा और द्वेष को नहीं उभारने की बात को—

छोड़कर बेखटके सभी बातें प्रगतिवाद के वृत्त में भी आ जाएँगी। आज का कोई प्रगतिशील वाद शोषण और विषमता को मिटाना चाहता है। शोषण और विषमता की समाप्ति शोषित चाहेगा, शोषक नहीं। अतः जब कभी शोषण, अन्याय, विषमता के विरुद्ध आवाज उठेगी तो शोषक को अप्रिय और शोषित को प्रिय लगेगी। स्वभावतः श्रेणीबद्ध समाज में हिंसा और द्वेष तब तक वर्तमान रहेगा, जब तक शोषक की चिंता न कर शोषण का अन्त नहीं कर दिया जाता। यह तो सिद्ध हो चुका है कि इसका अन्त किसी भी युग में प्रेम से नहीं किया जा सकता। तो श्री शिवदान सिंह चौहान मेरे विचार से प्रगतिशील और प्रगतिवादी के बीच अन्तर की स्थिति को स्वीकार कर साहित्यकारों को दो दलों में विभाजित करने के औचित्य पर बल देकर भ्रम उत्पन्न करते हैं। मैं प्रगतिशील और प्रगतिवादी दोनों को प्रगतिवाद से सम्बन्धित मानते हुए उन सबों की रचनाओं का प्रगतिवाद की कसौटी पर मूल्यांकन करने के पक्ष में हूँ। यथार्थ यह है कि समाज के लिए परिस्थितियों के अनुकूल होने पर जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलने के साथ ही साहित्य के क्षेत्र में जो नया जनवादी आन्दोलन उपस्थित हुआ, उसे लोग प्रगतिवाद कहकर पुकारने लगे। अस्तु प्रगतिशील के सम्बन्ध में श्री शिवदान सिंह चौहान की धारणा को उस सीमा तक स्वीकार लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि प्रगतिशील उन्हें कहा जाय जो गांधीवादी, द्वैतवादी या अद्वैतवादी रहते हुए भी समाजवाद से प्रभावित होकर प्रगतिवादी रचना करने की ओर प्रवृत्त हुए।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार—'साहित्यिक [illegible] की कसौटी पर खरा उतरनेवाला साहित्य मात्र प्रगतिशील माना जा सकता है। पर प्रगतिवादी साहित्य तो वही है जिसे हिन्दी के साम्यवादी लेखकों का गिरोह मानने को तैयार है। प्रगतिवादी सिद्धान्त है प्रगतिशीलता मूल्य।' (साहित्यिक निबन्धावली में नलिन जी का लेख, पृष्ठ १) लेकिन यहाँ शर्मा जी [illegible] प्रगति-वादियों पर तीखे व्यंग्यबाण छोड़ रहे हैं। प्रगतिवाद साहित्यिकता का विरोधी नहीं; अपितु वह रचनाकार से समाजवादी नैतिकता की अपेक्षा रखते हुए समाज के बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में आम आदमी के दैनन्दिन जीवन की अभिव्यक्ति के लिए भाषा एवं अनुभूति की खातिर नई भाव संपदा का आग्रही है।

अब हम उन लोगों के मन्तव्य से भी परिचित हो लें जो प्रगतिशील और प्रगतिवाद में अनिवार्य सम्बन्ध मानते हैं। डा० राम विलास शर्मा लिखते हैं, 'जैसे छायावादी कवि की रचनाएँ छायावाद के लिए नहीं हैं, वैसे ही प्रगतिशील [illegible]

प्रगतिवादी लेखकों की रचनाएँ प्रगतिवाद से भिन्न नहीं है। हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील और प्रगतिवाद का उसी तरह व्यवहार होता है जैसे छायावाद और छायावादी का।' (प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ : भूमिका, पृष्ठ संख्या ८) इसी प्रकार का विचार डॉ० रांगेय राघव तथा हिन्दी के लगभग सभी आलोचकों का है। मैं भी इस विचार से सहमत हूँ।

## प्रगतिवाद के उद्‌भव का तिथि-निर्धारण

प्रगतिवाद के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् इसके उद्‌भव के तिथि-निर्धारण का प्रश्न उठता है। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी विद्वान एकमत हैं कि प्रगतिवाद का उदय सन् १९३६ के आसपास हुआ। अप्रैल सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम सम्मेलन लखनऊ में आयोजित किया गया था। उस सम्मेलन के पश्चात् समाजवाद से प्रभावित वह प्रच्छन्न क्षीण साहित्यिक धारा स्पष्ट हो चली। इस तथ्य की ओर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी संकेत करते हुए लिखते हैं—"इस कल्पना-प्रधान विद्रोही युग की सामयिक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई राजनीति में समाजवादी विचारों के आगमन और अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील संघ की हिन्दी में स्थापना के पश्चात्।" (आधुनिक साहित्य, पृ० ३६९) श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी यही विचार प्रकट किया है कि "उत्तर छायावादी साहित्य प्रगतिशील धारा में एक अधिक स्वस्थ और सामाजिक दृष्टिकोण अपनाता है। यह धारा सन् १९३५-३६ के लगभग भारतीय साहित्य में संगठित रूप अपनाती है।"[1] श्री नामवर सिंह के अनुसार भी छायावाद के गर्भ से सन् ३० के आसपास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्यधारा का जन्म हुआ उसे ही सन् ३६ में प्रगतिशील साहित्य अथवा प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई।"[2] हिन्दी साहित्यकोश में श्री राधाकृष्ण सहाय ने लिखा है कि "छायावाद हमारी नई समस्याओं और परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील नहीं हो सका। फलतः सन् १९३६ ई० में मुल्कराज आनन्द और सज्जाद ज़हीर के उद्योग से 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। इसके प्रथम अधिवेशन के सभापति प्रेमचन्द हुए, दूसरे के रवीन्द्र नाथ ठाकुर। यहाँ से प्रगति-युग का क्षीण प्रारम्भ माना जा सकता है।" (हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४६४)

उपर्युक्त उद्धरणों द्वारा उद्‌भव-तिथि के प्रमाणीकरण का आधार प्रगतिवादी रचनाओं के प्रकाशन की तिथियाँ ही हो सकती हैं। सन् १९३६ के निकट

१. हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा, पृ० १५०।
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० ५०।

पूर्व में प्रकाशित होने वाली कतिपय रचनाओं में वर्ग-संघर्ष की भावनाओं का दर्शन होता है। रामेश्वर 'करुण' की ब्रजभाषा में लिखी हुई 'करुण सतसई', दिनकर की 'रेणुका' नरेन्द्र लिखित 'शूलफूल' और 'कर्णफूल' आदि कृतियाँ उल्लेखनीय है। 'करुण-सतसई' का प्रकाशन १९३४ में हुआ। उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए— (अवन्तिका, जनवरी १९५४ ई०, निबंध प्रगतिवादी काव्य पर एक दृष्टि, ब्रजकिशोर चतुर्वेदी, पृ० २२० )

> "जब लौं 'श्रम' अरु उपज को, होत न साम्य विभाग,
> बुझै बुझाए किमि कहौ, यह अशांति की आग !
> ह्वै न भयो ह्वै है नहीं, साम्यवाद सम आन,
> जग की व्याधि अगाध को, सांचो-सही निदान।
> मौ वातन की वात इक, वादि करै को तूल,
> है इक रोटी-प्रश्न ही, सब प्रश्नन को मूल।

दिनकर की 'रेणुका' १९३५ ई० मे प्रकाशित हुई, किंतु यह १९३१ मे ही लिखी जा चुकी थी। 'रेणुका' और 'हुँकार' की कुछ कविताएँ यथा 'कस्मै देवाय', 'वनफूलो की ओर' और 'नई दिल्ली' सन् १९३२ से ही लोगों का अनुरंजन कर रही थी। नरेन्द्र जी के 'शूलफूल' सन् १९३४ ई० में और 'कर्णफूल' १९३६ ई० में प्रकाशित हुए। उपर्युक्त सभी कृतियों मे वर्ग-चेतना का उन्मेष स्पष्ट झलकता है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि प्रगतिवाद की पगध्वनि सन् १९३० से ही सुनाई पड़ने लगी थी और इसके प्रथम पदविक्षेप की अस्फुट पग-ध्वनि को ढूंढने के लिए अतीत के और निचले चरण तक उतरना पड़ेगा।

## मानववादी सामाजिक चेतना की परम्परा

प्रगतिवाद का पिता यदि समाजवाद है तो इसकी माता हमारे साहित्य की मानववादी सामाजिक चेतना की दीर्घ परम्परा है। समाजवाद से इस परम्परा के समागम की चर्चा हम वाद में करेंगे। महज इस परम्परा का दिग्दर्शन भर कर लेना हमारे लिए अभीष्ट है। सामाजिक चेतना का प्रथम दीप-स्तंभ विद्यापति का काव्य है, जिसमें तद्युगीन समाज और दारिद्र्य का हम सफल चित्रण पाते हैं। उनकी लगभग सभी नचारियाँ शिव के व्यक्तित्व मे दीनता को प्रतिबिम्बित करती हैं। कबीरदास दूसरे संवेदनशील प्रवक्ता हैं, जिनकी वाणी में न केवल गरीबी प्रत्युत गरीबों के प्रति उनकी पक्षधरता भी अपनी सम्पूर्ण प्रखरता के साथ भास्वर है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'दुर्बल को न सताइए, जाकी मोटी हाय।
बिना जीव के सास सों लोह भस्म होइ जाय।।'

तुलसीदास यद्यपि वर्ण-व्यवस्था के पोषक थे, तो भी उनके इस यथार्थवादी चित्रण को हम कैसे भुला सकते हैं—

'कत विधि सृजी नारि जग माहीं।
पराधीन सपने सुख नाहीं।।'

नरोत्तम दास दारिद्रय एवं दैन्य के चित्रण में बेजोड़ हैं। उनके 'सुदामा चरित' के एक-दो उदाहरण देखिए—

'कोदो सवा जुरतौं भरि पेट न चाहति हौं दधि दूध मिठौती।
सीत वितीतन जी सिसियात, तौ हौं हठ्ती पै तुम्हैं न हठौती।।
जो जनती न हितू हरि सों तो मैं काहे को द्वारिका पेलि पठौती।
या घर तें कबहूँ न गयो पिय ? टूटो तवा अरु फूटी कठौती।।'

और

'खोलत सकुचत गांठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पट फटि छुटि पर्यौ, बिखरि गयौ तिहि ठौर।।'

रीतिकाल में हिन्दी की इस प्रवृति को प्रोत्साहन न मिल सका। पुनः भारतेन्दु युग में आकर यह जी उठती है। साहित्यकारों में सामाजिक चेतना जगाने में राष्ट्रीय भावना का विशेष महत्व है। पराधीनता से मुक्ति पाने के लिए भारतेन्दु युग से प्रबुद्ध वर्ग की अकुलाहट साहित्य में अभिव्यक्त होने लगती है। भारतेन्दु की 'भारत दुर्दशा' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह नवीन राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना का प्रथम साहित्यिक चरण है और इसकी स्वाभाविक प्रगति के पदचिह्न मैथिलीशरण गुप्त 'एक भारतीय आत्मा', सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन और रामधारी सिंह 'दिनकर' की रचनाएँ हैं। सामाजिक दायित्व के प्रति जागरूक मूर्धन्य छायावादी कवि प्रसाद, निराला और पंत भी रहे हैं। निराला के 'परिमल' की 'विधवा', 'भिक्षुक' आदि कविताओं में सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ वर्ग-चेतना का दर्शन होता है। अतः श्री धनंजय वर्मा के इस कथन से मैं पूर्ण सहमत हूँ कि दार्शनिक दृष्टि से प्रगतिशील तत्वों की कविता का आरम्भ परिमल से ही मान लेना चाहिए। और यह कहने में कोई अतिरंजना नहीं है कि इस प्रगतिशील धारा के पुरस्कर्ता निराला ही बने थे।"[1] महाकवि निराला की 'विधवा' का यह संवेदनापूर्ण

१. निराला—काव्य और व्यक्तित्व, धनंजय वर्मा, पृ० १११।

यथार्थवादी चित्र देखिए—

> "वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी,
> वह दीप-शिखा सी शांत, भाव में लीन,
> वह क्रूर काल ताडव की स्मृति-रेखा सी,
> वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
> दलित भारत की ही—विधवा है।'

ऐसा यथार्थ जो प्रत्येक पाठक के हृदय में कचोट उत्पन्न कर देता है। 'भिक्षुक' तो सरल शब्दो के सीने पर पूर्णतः साकार हो उठा है। 'दीन' रास्ते पर गिरे फूल के समान उपेक्षित है। समाज के उच्च वर्ग पर तीखा व्यंग्य करने वाली 'रास्ते के फूल से' शीर्षक कविता में इन पंक्तियों को देखिए—

'ढंके हृदय में स्वार्थ, लगाए ऊपर चन्दन, करते सभय नदीश-नन्दिनी का अभिनन्दन'।

'परिमल' का प्रकाशन सन् १६२६ में हुआ था। अतः प्रगतिवाद की पदचाप का वर्ष सन् १६२६ को माना जा सकता है। किन्तु राष्ट्र की राजनीति और साहित्य में समाजवाद का प्रवेश सन् १६३० के बाद ही हुआ और तभी प्रगतिवाद की धारा गतिशील हो सकी। वह समाजवाद की माँग बनकर हमारे यहाँ आया। अतः श्री शिवकुमार मिश्र के० शब्दो में "इन्ही सब कारणों से सन् १६३५-३६ के लगभग पिछले युगों की सम्पूर्ण प्रगतिशील साहित्यिक विरासत को संभालने वाले, प्रगतिवादी युग का आविर्भाव न तो किसी अनहोनी का सूचक है और न किसी ऐसी आकस्मिकता का, जो ऐतिहासिक सदर्भों से कटी, युग की संवेदनाओं से शून्य, बलात् हिन्दी साहित्य के गले बँध गई हो अथवा बाँध दी गई हो। युगीन गतिविधियों को देखते हुए जितनी स्वाभाविक कोई बात हो सकती थी, प्रगतिवाद का आविर्भाव उतना ही स्वाभाविक था।[1]

अर्थात् प्रगतिवाद भारतवर्ष में अनचाहा मेहमान बनकर नही आया। अब जिन परिस्थितियों ने प्रगतिवाद के उदय को अनिवार्य कर दिया, उनकी चर्चा कर लेना आवश्यक है। इसके लिए आगे हम विभिन्न सामसामयिक परिस्थितियों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

## राजनीतिक पृष्ठभूमि

जो देश पराधीन हो, पद-दलित हो, तब यह स्वाभाविक है कि उस देश के

---

१. प्रगतिवाद—शिवकुमार मिश्र, पृष्ठ १०-११।

प्रवुद्ध वर्ग में शासक के प्रति विद्रोह की भावना उफनाती होगी। किन्तु जब तक भारत के किसान और मजदूर नही जागते तब तक स्वाधीनता का स्वप्न भी स्वप्न बना रहता। उन्हे जगाने की लिए बुद्धिजीवी वर्ग के ओर से उनके प्रति सहानुभूति ज्ञापन और उनकी कठिनाइयों को हटाने का प्रयास आवश्यक था। उन्हे यह भी विश्वास मिलना चाहिए था कि स्वराज्य मिलने पर उन्हें जमीदारो और उद्योगपतियो के शोषण का शिकार नही बनना पडेगा। महात्मा गाँधी भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में कूदने के साथ ही भारतीय किसान और मजदूर वर्ग की दयनीय अवस्था और उनके शोषण से मोटे होने वाले राजे-महाराजों, बडे जमीदारों और उद्योगपतियो की निष्ठुरता की ओर देश का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास करने लगे। फरवरी १९१६ मे हिन्दू विश्वविद्यालय सेंट्रल कालेज के उद्घाटन-समारोह मे भाषण करते हुए उन्होने कहा था कि जब कभी मैं भारत के किसी बड़े शहर में, चाहे वह ब्रिटिश भारत मे हो, चाहे बडे राजाओ द्वारा शासित भारत मे, किसी विशाल महल के निर्माण की खबर सुनता हूँ, तब मुझे ईर्ष्या होने लगती है और मैं कहता हूँ 'हाय, यह वह रुपया है जो किसानों से प्राप्त हुआ है।' यदि हम किसानों के श्रम का सारा फल उनसे छीन लेते हैं या दूसरों को छीन लेने देते हैं, तो हमारे आसपास स्वराज्य की कुछ अधिक भावना नही मानी जा सकती। हमारा निस्तार किसानो द्वारा ही हो सकता है। उसे प्राप्त करानेवाले न तो वकील होंगे, न डॉक्टर और न धनी जमीदार।'' (गाँधी की कहानी—लुई फिशर, पृष्ठ ७५।)

यह इन्कलाबी आवाज उस फकीर की थी, जो आधुनिक भारत का 'बापू' बना। उनकी कथनी और करनी मे कोई अन्तर नही था। उनके नेतृत्व मे चम्पारण और खेड़ा के किसान-आन्दोलन सफल हुए। सन् १९१७ मे उन्हें अहमदाबाद के मजदूरों की हड़ताल का भी नायक बनना पड़ा और उसमे भी उन्हे सफलता मिली। लेकिन उन्होंने बराबर वर्ग-सहयोग को ही प्रोत्साहन दिया, वर्ग-संघर्ष में उन्हे हिंसा की बू और स्वातंत्र्य-संघर्ष को दुर्बल बना देने की आशंका दिखाई दे रही थी। उस समय पूरे देश के सामने सबसे महत्वपूर्ण विषय यह था कि पराधीनता की बेड़ी किस प्रकार तोड़ी जाय। परिणामतः महात्मा गाँधी ने अपने गाँधीवाद के प्रयोग-काल में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अहिंसात्मक विद्रोह करने की ओर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की, वर्ग-चेतना की उन्हे बहुत कम परवाह थी। १९३५ के पहले उनके सत्याग्रह-आन्दोलन को संक्षेप में हम चर्चा करना चाहेंगे।

'जलियाँवाला बाग कांड' से स्तब्ध एवं क्षुब्ध भारत को गाँधी जी ने अंगरेजी शासन के विरुद्ध अहिंसात्मक असहयोग का नारा दिया। सन् १९२१ के इस आन्दोलन

मे बडी संख्या में देशभक्त सत्याग्रही सम्मिलित हुए। राजबंदियो की संख्या ३० हजार तक पहुँच गई थी। चौरी-चौरा कांड इस आन्दोलन के स्थगन का कारण बना। सन् १९२२ के मार्च मे महात्मा गाँधी छः वर्ष के लिए बंदी बना लिये गये। १९२४ ई० में मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की में प्रजातंत्र की स्थापना के पश्चात् यहाँ का खिलाफत-आन्दोलन भी समाप्त हो गया। आन्दोलन का दूसरा दौर १२ मार्च १९३० के दिन महात्मा गाँधी की डांडी-यात्रा से प्रारम्भ हुआ। यह सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन ५ मार्च १९३१ के गाँधी-इरविन समझौता के पश्चात् बंद हो गया। दिसम्बर, १९३१ मे गोलमेज सम्मेलन से निराश होकर लौटने पर गाँधी जी ने सन् १९३२ में पुनः सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन प्रारम्भ किया। सन् १९३० से ३२ तक लगभग पचास हजार लोग बंदी बनाये गये। सरकार द्वारा दिए गए 'साम्प्रदायिक पंचाट' नामक फैसले को कुछ परिवर्तनों के साथ जब कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया तब आन्दोलन का यह तीसरा दौर भी सन् १९३४ में समाप्त हो गया। इसके बाद महात्मा गाँधी कांग्रेस से अलग होकर उसका संचालन करने लगे। इस आन्दोलन के साथ-साथ भारतीय राजनीति का गाँधी युग भी समाप्त हो जाता है। इस अवधि मे गाँधीवाद की राजनैतिक उपलब्धि बहुत गौण है, किन्तु देश की जनता को जगाने मे, उसे किसी भी प्रकार की क्रान्ति के लिए तैयार करने मे महान सफलता प्राप्त हुई। राष्ट्रीयता की भावना को जगाकर जब उसने राष्ट्र को सचेत कर दिया तो जगे हुए राष्ट्र को उसका अहिंसात्मक प्रयोग व्यर्थ लगने लगा; देश की तरुण पीढ़ी समाजवाद की ओर आकर्षित हो गई। समाजवाद का प्रचार कम्युनिस्ट पार्टी सन् १९१९ से ही कर रही थी; उसके संचालन मे मजदूर संघ हड़ताल भी कर रहे थे। किन्तु जब कांग्रेस के तरुण नेताओं ने समाजवाद के प्रति अपनी रुझान को व्यक्त करना प्रारम्भ किया तभी समाजवाद को देशव्यापी समर्थन प्राप्त हो सका। वे गरम दल वाले नौजवान शुरू से ही पूर्ण स्वराज्य की माँग पर जोर दे रहे थे। सन् १९२९ के कांग्रेस अधिवेशन में पंडित जवाहर लाल नेहरू ने पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य पर पूरा बल दिया और अध्यक्ष-पद से बोलते हुए कहा कि "मैं तो साम्यवादी और प्रजातंत्रवादी हूँ। मैं बादशाहों और राजाओं को नही जानता।" (कांग्रेस का इतिहास—खंड १-डॉ० पट्टाभि सीतारमय्या, पृ० २८३।) किन्तु साम्यवाद के हिंसा के मार्ग को तद्युगीन भारत के लिए अनुपयुक्त ठहराते हुए उन्होंने स्पष्ट किया था कि हिंसा के परिणाम बहुधा विपरीत और भ्रष्ट करने वाले होते हैं। खासकर हमारे देश में तो इससे सत्यानाश ही हो सकता है। यह बिल्कुल सच है कि आज जगत में संगठित हिंसा का

२

ही बोलबाला है। सभव है, हमें भी इससे लाभ हो, परन्तु हमारे पास तो संगठित हिंसा के लिए न सामग्री है, न तैयारी, और व्यक्तिगत अथवा स्फुट हिंसा तो निराशा को कबूल करना है। मैं समझता हूँ, हममें से अधिक लोग नैतिक दृष्टि से नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक दृष्टि से विचार करते हैं और यदि हमने हिंसा से मार्ग का परित्याग किया है तो इसलिए किया है कि हमें इससे कोई सार- निकलता नहीं दिखाई देता। स्वतंत्रता के किसी भी आन्दोलन में जनता का शामिल होना जरूरी है और जनता के आन्दोलन तो शात ही हो सकते है। हाँ संगठित विद्रोह की बात अलग है।" (कांग्रेस का इतिहास—खंड १, डॉ० पट्टाभि सीतारमय्या, पृष्ठ २८३।)

सन् १९३४ में पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक हुई। उसको निरे विधानवाद की ओर बह जाने से रोकने और देश के सामने एक अधिक गतिशील कार्यक्रम रखने के लिए समाजवादी कांग्रेसियों की एक कांग्रेस भी वहीं बुलाई गई। उस समाजवादी सभा के अध्यक्ष पद से बोलते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा था कि "यथार्थ मे देश के विभिन्न वर्गों में भिन्नता की भावना उत्तरोत्तर तीव्र गति से जड़ पकड़ती जा रही है और उच्च तथा मध्यवर्ग के अधिकाधिक टुकड़े राष्ट्रीय आन्दोलन से टूटकर अलग होते जा रहे हैं। विशाल जन समुदाय में से काटकर अनेक नये वर्गों का निर्माण हो रहा है। गवर्नमेंट अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए देश को प्रतिक्रियावादी शक्तियों जैसे राजाओं, बड़े जमींदारों और सम्प्रदायवादियों को बढ़ावा देकर उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध खड़ा करने का प्रयत्न कर रही है। यह भारत में ब्रिटिश सत्ता की प्रारम्भ से ही आधारभूत नीति रही है। भारतीय पूँजीपतियों को अपने साम्राज्यवाद के छोटे साझेदार बनाकर वह उन्हें भी अपने साथ मिला रही है। ऐसी स्थिति में एकता की चर्चा करना क्या अर्थहीन नहीं? हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम एकता का रोना छोड़ें, क्योंकि उसके लिए कोई आधार नहीं है। हमे तो राष्ट्रीय आन्दोलन को, जो अभी तक मुख्यत: मध्यवर्गीय आन्दोलन रहा है, अधिक तीव्र बनाना चाहिए। ऐसा मेरे विचार से तभी हो सकता है जब हम जन समुदाय को आर्थिक वर्ग-चेतना के आधार पर सगठित करके आन्दोलन के आधार को अधिक विस्तृत बनायें।" (समाजवाद और राष्ट्रीय क्रान्ति—आचार्य नरेन्द्रदेव, पृष्ठ ७)

आचार्य नरेन्द्रदेव के अभिभाषण से उद्धृत उपर्युक्त अंश समाजवाद की स्वीकृति की उपयुक्त परिस्थितियों का चित्र प्रस्तुत करता है। महात्मा गांधी की वर्ग-सहयोग और एकता की नीति शोषक वर्ग द्वारा प्रतिकूल मार्ग अपनाए जाने से असफल हो

रही थी। उस समय देश मे लगभग छः सौ देशी राज्य थे। उन राज्यो के लोगो मे असंतोष की लहर फैल रही थी। स्वाभाविक था कि वे राजा प्रजातंत्र से घवड़ाकर अंगरेजों के सहायक सिद्ध होते। बड़े जमीदारो को भी सम्पूर्ण सुख सुविधाएँ मिली हुई थी। अतः उनमें ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उठ खड़ा होने की अभिलाषा ही क्यों जगती? यदि कोई-कोई जमींदार कांग्रेसी बने हुए थे भी तो उनमे राष्ट्रीय भावना का कम और आतंकवादियों की डकैती और गोली का डर अधिक काम कर रहा था। वे प्रायः अंगरेजों के पिट्ठू थे, क्योकि वे सुनते थे कि स्वराज्य मिलने पर उनकी जमींदारी नही रह जायगी। इसी प्रकार उद्योगपति भी अंगरेज पूँजीपतियो को साझेदार बनाये रखने के कारण अंगरेजो के ही मित्र थे। इसी मे वे अपना कल्याण भी समझते थे। इसके अतिरिक्त गांधी जी के वर्ग-सहयोग के विरुद्ध अंगरेजी शासन द्वारा सम्प्रदायवाद, वर्णवाद को उभाड़कर स्वाधीनता-संग्राम को कमजोर करने का कुचक्र चलाया जा रहा था। सन् १९२८ से १९३५ तक की अवधि मे अनेक बार हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। अछूतों को पृथक् प्रतिनिधित्व देने की सरकारी घोषणा कर दी गई थी। फलतः गाँधी जी का अधिकांश समय स्वाधीनता-संघर्ष के बदले घरेलू मतभेद ही ठीक करने में बर्बाद होने लगा। तो भी वे हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित न कर सके। हिन्दू-मुस्लिम दंगों और वर्ण-व्यवस्था के दुष्परिणामो ने बुद्धिजीवी वर्ग को धर्म और ईश्वर के प्रति उदासीन बना दिया।

इन सब कारणों से, शोषको के विरुद्ध, धर्म और सम्प्रदाय के विरुद्ध, हिन्दू की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था तथा अन्य सभी मजहबी अंध-विश्वासों के विरुद्ध प्रबुद्ध वर्ग ने ऐसे सिद्धांत को अपनाना आवश्यक समझा, जिसे अपनाकर वह देश, धर्म-सम्प्रदाय के दुर्गुणों से मुक्त वर्गहीन समाज की स्थापना कर सकता। अतः स्वाभाविक था कि लोगो का ध्यान समाजवाद की ओर जाता।

समाजवाद की ओर लोगों को आकर्षित करने में साम्यवादी और कतिपय प्रसिद्ध आतंकवादी भी विशेष महत्व रखते है। साम्यवादी दल का जन्म सन् १९१९ में हो गया था। इस दल के कार्यकर्त्ता विशेषकर मजदूर संगठन में ही अपनी शक्ति का व्यय कर रहे थे। सन् १९२८ मे उन लोगों ने अपनी अलग मजदूर यूनियन बना ली थी। इनके गुप्त प्रचार-कार्य से सरकार बेहद घबराती थी। सन् १९२४ का कानपुर षड्यंत्र-केस और सन् १९२९ का मेरठ षड्यंत्र केस इसके प्रमाण हैं। विशेषकर मेरठ षड्यंत्र केस का प्रभाव समाजवाद के प्रसार में अधिक पड़ा। इसके अभियुक्त कांग्रेस महासमिति के आठ सदस्य, श्रीपाद अमृत डांगे, एम० एस० मिरजा, पूरण चन्द्र जोशी, सोहन सिंह आदि थे। साम्यवादी दल के संगठन और समाजवाद के प्रसार में

एम० एन० राय का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सन् १६२४ में श्रीपाद अमृत डांगे के सम्पादन में बम्बई से निकलने वाली 'सोशलिस्ट' नामक पत्रिका का भी महत्व कम नहीं। यों तो आलोचना करते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि "भारत में साम्यवादियों की कम संख्या और कम प्रभाव का एक कारण यह है कि यहाँ के साम्यवादियों ने साम्यवाद की वैज्ञानिक जानकारी फैलाने और जनता की विचारधारा को उसके पक्ष में बदलने की चेष्टा के बजाय अपना ध्यान ज्यादातर दूसरों को गाली देने पर केन्द्रित रखा है।"(राष्ट्रपिता:जवाहरलाल नेहरू, पृष्ठ ८७।) किन्तु साम्यवाद के प्रसार में इनके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक राष्ट्रवादी क्रान्तिकारियों का सम्बन्ध है, वे कांग्रेसी नेताओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनका लक्ष्य प्रारम्भ से ही पूर्ण स्वराज्य था। उनमें प्रसिद्ध वीर भगत सिंह और चन्द्रशेखर आजाद ने आगे चलकर अपने दल का नया नामकरण 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट-रिपब्लिक एसोसिएशन' यानी हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातांत्रिक संघ किया था। सन् १६२६ की ८ अप्रेल को दिल्ली के असेम्बली भवन में बम का विस्फोट कर वीर भगत सिंह ने भारतीय क्रान्तिकारी दल के समाजवादी उद्देश्य की घोषणा की थी। सन् १६३१ में वीर भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को जब फाँसी दी गई तो सम्पूर्ण देश में विषाद और संताप का अंधकार भर गया। वीर भगत सिंह की प्रसिद्धि उतनी ही थी, जितनी महात्मा गाँधी की। भगत सिंह के शहीद हो जाने के पश्चात् क्रान्तिकारियों की गतिविधि लगभग नगण्य हो गई। लेकिन वीर क्रान्तिकारियों की शहादत जितनी गहरी राष्ट्रीयता जगा सकी, शायद गांधी जी को भी इसमें उतनी सफलता न मिली हो। भला, जो भगत सिंह इतने लोकप्रिय थे, उनका समाजवाद तरुणों को आकर्षित करने में कैसे चूकता? इस प्रकार समाजवाद के प्रवेश की राजनीतिक पृष्ठभूमि स्वाभाविक ढंग से तैयार हो गई। आश्चर्य होता है कि देश में इतना राजनैतिक संक्षोभ रहते हुए भी हमारा हिन्दी काव्य जगत् निश्चिन्त होकर आत्माभिव्यक्ति का रंग उड़ेल रहा था, धरती को छोड़ कल्पना के पंख लहराते हुए आसमान की बात कर रहा था।

## आर्थिक पृष्ठभूमि

अर्थ के मूल स्रोत श्रम पर आधारित कृषि और उद्योग हैं। समाज की समृद्धि दोनों के सम्यक् विकास पर निर्भर है। समाज के सभी लोग सुखी तभी रह सकते हैं जबकि कृषि और उद्योग से होने वाले उत्पादन का लाभ सभी को समान रूप से उपलब्ध हो सके। अंगरेजी शासन के पूर्व भारतवर्ष के लोगों को श्रम-विभाजन की

व्यवस्था के परिणामस्वरूप इस प्रकार की सुख-सुविधाएँ बहुत अंश तक प्राप्त थी। देश की अर्थ-व्यवस्था ग्राम-व्यवस्था पर खड़ी थी। प्रत्येक गाँव एक स्वावलंबी प्रजातंत्र का उदाहरण था। इसकी चर्चा करते हुए कार्ल मार्क्स ने लिखा है—'भारत की ये छोटी-छोटी और अति प्राचीन बस्तियाँ.........जमीन के सामूहिक अधिकार, खेती तथा दस्तकारी की मिलावट और ऐसे श्रम-विभाजन पर आधारित हैं, जो कभी नही बदलता।.........प्रत्येक बस्ती अपने में पूर्ण होती है तथा अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न कर लेती है। उत्पादन का अधिकतर भाग बस्ती के काम में आता है और वह बाजार का माल नही बनता। अतः माल को खरीदने और उसे बेचने से समाज मे जो श्रम-विभाजन आता है, वास्तव में जो भारतीय समाज मे आ भी चुका था, उसका प्रभाव यहाँ के उत्पादन पर नही पड़ता।.........पैदावार का एक हिस्सा बतौर लगान के राज्य को दे दिया जाता है।.........सब लोग मिलकर खेती करते हैं और आपस में पैदावार बाँट लेते हैं। इसके साथ-साथ कातने और बुनने का काम प्रत्येक परिवार में सहायक धन्धे के रूप में होता है।" (मैंने इसे आधुनिक भारत का इतिहास—लेखक प्रो० दीनानाथ वर्मा से उद्धृत किया है।)

अंगरेजों ने जब भारत को लूटना प्रारम्भ किया, तो भारत का प्राचीन आर्थिक ढाँचा छिन्न-भिन्न हो गया। यहाँ की लूट से इंगलैंड मे औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। इसकी चर्चा करते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि "बंगाल इस बात पर घमंड कर सकता है कि इंगलैंड मे औद्योगिक क्रान्ति को जन्म देने में उसने बहुत मदद की, अमेरिकन लेखक ब्रुक ऐडम्स हमको बताता है कि यह किस तरह हुआ.........।"[1] उस समय हिन्दुस्तान के उनचास प्रतिशत लोग उद्योग पर तथा ५१ प्रतिशत कृषि पर निर्भर थे। इस भारतीय उद्योग को लगभग समाप्त कर दिया गया। कृषि पर निर्भर रहने वालों के शोषण के लिए जमींदारी प्रथा की व्यवस्था हुई। परिणामस्वरूप सन् १८५७ से लेकर सन् १८०० तक ३२ बार अकाल पड़ा, जिनमें लगभग साढे तीन करोड़ लोग मारे गए। सन् १८३१ मे कृषि पर निर्भर लोगों का प्रतिशत ७५ हो गया। इन गरीब किसानों के गाँवो मे रोगों से बचने की कोई व्यवस्था नही थी। इनका पैसा, इनकी इज्जत-अस्मत लूटने के लिए जमींदार बराबर जोंक के समान इनसे चिपटे रहते। धीरे-धीरे कृषक वर्ग मे असंतोष और गंभीर अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह का संचार होने लगा। सन् १८१७ का चम्पारण-सत्याग्रह, सन् १८१८ का खेड़ा-सत्याग्रह, सन् १८२२ का चौरी-चौरा कांड और सन्

१. हिन्दुस्तान की कहानी—पं० जवाहरलाल नेहरू, पृष्ठ ३६५-३६८।

१९२८ का बारडोली-सत्याग्रह इसके प्रमाण हैं। धीरे-धीरे किसान-सभाओं का संगठन-कार्य प्रारम्भ हुआ। सन् '२७ में बिहार में किसान सभा की स्थापना हुई। सन् '३१ में अखिल भारतीय किसान सभा संगठित की गई और सन् '३५ में उत्तर प्रदेश की प्रान्तीय किसान सभा का जन्म हुआ।

अंगरेजी शासन के पूर्व के भारत का कारीगर वर्ग नष्ट हो गया था। भारतीय पूंजीपतियों के अथक प्रयास और विदेशी पूंजी की सहायता से भारत में यूरोपीय ढंग के जब कुछ उद्योग स्थापित हुए, तो दो नये वर्गों की उत्पत्ति हुई, पूंजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग। सन् १९१४ तक कपड़े की २६४ तथा जूट की ६४ मिलें खुल चुकी थीं। सन् '३५ तक आते-आते यह संख्या और अधिक हो गई। उद्योगपतियों को विदेशी बाजारों में कठिन प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ता था। अंगरेजी शासन भारत के औद्योगीकरण के प्रति, प्रारम्भ से ही प्रच्छन्न रूप से विरोधी रवैया अपना रहा था। इसलिए वह विदेशी मालों पर आयात-कर लगाने के पक्ष में नहीं था। किन्तु जब प्रथम विश्वयुद्ध में उसे काफी धन व्यय करना पड़ा तो उसकी पूर्ति के लिए विदेशों से आयातित वस्तुओं पर चुंगी बाँधने के लिए सन् १९२० में आकर उसे बाध्य होना पड़ा। तो भी विदेशों की तुलना में भारतीय उद्योगपति धन और साधन दोनों दृष्टियों से काफी पिछड़े हुए थे। इसकी पूर्ति के हेतु मजदूरों से अधिक-से-अधिक श्रम करवाते और कम-से-कम वेतन देते। उनके लिए न वे उचित आवास की व्यवस्था करते और न उनके स्वास्थ्य और शिक्षा की उन्हें चिन्ता थी। फलतः मजदूर वर्ग में भी विद्रोही भावना पनपने लगी। सन् १९१७ की रूसी क्रान्ति का उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् १९२१ में अखिल भारतीय मजदूर संघ की स्थापना हुई। १९२९ में एम० एन० जोशी ने इंडियन ट्रेड यूनियन का संगठन किया। १९३१-३२ में नेशनल फेडरेशन गठित हुआ। मजदूरों ने अपने वेतन में वृद्धि तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने के हेतु हड़ताल का सहारा लेना प्रारम्भ किया। उनकी इस संघर्ष चेतना ने समाजवाद की स्वीकृति का मार्ग प्रशस्त किया।

भारत की उस समय की आर्थिक स्थिति के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि शोषितों की संख्या अपार होती गई और मुट्ठी भर शोषकों की दानवी लीला वर्ग-संघर्ष की भावना के विस्तार का कारण बनी, जो अच्छा ही हुआ।

## सामाजिक पृष्ठभूमि

भारतवर्ष सामाजिक दृष्टि से बहुत रोगग्रस्त रहा है। यह धर्म और सम्प्रदाय बहुल देश है। प्रमुख धर्मावलम्बियों में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, सिक्ख, जैन

और पारसी हैं। सबसे अधिक संख्या हिन्दुओं की है और उसके बाद संख्या की दृष्टि से मुसलमानों का स्थान है। हिन्दू-समाज की कुरीतियों में छुआछूत, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, ब्राह्मण पूजा, वर्ण-व्यवस्था आदि प्रमुख हैं। मुस्लिम समाज भी पर्दा-प्रथा, बहु-विवाह, अरब की अनावश्यक अनुकृतियाँ आदि कुरीतियों से ग्रस्त रहा है। जब भारत के लोग पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आये, तो उन्हें सामाजिक सुधार की आवश्यकता महसूस हुई। हिंदू सुधारकों में राजा राम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, महर्षि दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन महापुरुषों ने अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास की ओर संकेत कर समाज की बुराइयों को राष्ट्रीय दुर्गति एवं पराधीनता का मूल कारण बताया, साथ ही उन्हें कुरीतियों से मुक्त होकर राष्ट्र के जीवन को स्वस्थ बनाने का संदेश दिया। मुस्लिम समाज में जागृति लाने वाले सर सैयद अहमद खाँ हुए। इन्होंने अधिक शक्ति अंगरेज-मुस्लिम सबंध-सुधार में लगाई और साथ-साथ पर्दा-प्रथा, बहु-विवाह तथा दास-प्रथा का विरोध करते हुए पाश्चात्य शिक्षा, स्त्री-शिक्षा और विदेश-भ्रमण पर विशेष बल दिया।

इस सुधार-आन्दोलनों से समाज को राष्ट्रीयता की प्रेरणा मिली और यह राष्ट्रीयता विभिन्नताओं में एकता के सूत्रपात का कारण बन गई। तो भी अंग्रेजों के कुचक्र तथा कट्टर सम्प्रदायवादी लोलुप नेताओं के कपटपूर्ण आचरण से हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित होने में बाधा उपस्थित होती रही। खिलाफत आन्दोलन के समय दोनों एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये थे। लेकिन तुर्की-समस्या के हल होते ही पुनः सन् १९२५ से साम्प्रदायिक दंगों का सिलसिला शुरू हो गया।

ऊपर हमने धार्मिक दृष्टि से भारतीय समाज की स्थिति का पर्यवलोकन किया है। आर्थिक दृष्टि से हमारे समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, प्रथम-उच्च वर्ग, द्वितीय-मध्य वर्ग और तृतीय-निम्न वर्ग। इन तीनों वर्गों में राजनीतिक दृष्टि से मध्यम वर्ग ही अधिक प्रबुद्ध रहा है। इस वर्ग के बुद्धिजीवियों ने धर्म की प्रतिगामिता को पहचाना और समाज को सम्पूर्ण बुराइयों तथा अन्धविश्वासों का एक ही निदान उसे अधिक उपयुक्त जँचा। वह था कार्लमार्क्स का समाजवाद। इन्होंने देखा कि मन्दिर और मस्जिद लड़वाते हैं, इन्सान-इन्सान के बीच मजहब की दीवार खड़ी करते हैं। विस्मयपूर्ण वैज्ञानिक अनुसन्धानों से ईश्वर का अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया था। इसका अर्थ यह नहीं कि सभी बुद्धिजीवी समाजवाद के ही समर्थक थे। सच्चाई यह थी कि जिन्हें ईश्वर तथा आध्यात्मिकता में आस्था थी, वे गाँधीवाद की ओर झुके और

जो नास्तिक थे उन्हें समाजवाद ही रुचा। चूँकि गाँधी जी भी कभी-कभार अपने को समाजवादी कहा करते थे, इसका प्रभाव गाँधीवादियों पर भी पड़ा। वे लोकतान्त्रिक ढङ्ग से समाजवाद के प्रयोग द्वारा गरीबों का कल्याण देखना चाहते थे, समाजवाद के भौतिकवादी दर्शन से उन्हें कोई मतलब नहीं था।

निम्न वर्ग मे पूरे निर्धन और निम्न जातियों के लोग आते हैं। इनमें शिक्षा का नितान्त अभाव था। इनकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी। इन्हें ही सर्वाधिक शोषण एवं घृणित अत्याचार का शिकार बनना पड़ा। उच्च वर्ग समाज के शोषक समुदाय की संज्ञा है। यह वर्ग शिक्षा-प्रेमी से अधिक विलासी था। अहंकार और निर्लज्जता इसकी प्रधान विशेषता थी। इस वर्ग में राजा, बड़े जमींदार, व्यापारी तथा उद्योगपति आते हैं। यह वर्ग प्रारम्भ मे राष्ट्रीयता का डरपोक समर्थक था। लेकिन सन् १९२४ के बाद धीरे-धीरे प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन से यह आशंकित हो उठा। इसे राष्ट्रीय आन्दोलन में अपने स्वार्थ का अवसान होता दिखाई देने लगा। फलतः मध्यम और निम्न दोनों वर्गों के हृदय मे उच्च वर्ग के प्रति घृणा उत्पन्न होती गई और उच्च वर्ग को गाली देने वाला समाजवादी नारा उन्हें प्रिय लगने लगा। देहात मे जमीदारों का जो शोषण और उत्पीड़न का ढङ्ग था, उसे देखकर मध्यम वर्ग के शिक्षित युवकों का हृदय क्षुब्ध हो उठता। यूरोपीय शिक्षा ने उन्हें सामन्तवादी दृष्टिकोण के खोखलेपन से परिचित करा दिया था और नियतिवाद के विरुद्ध महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गाँधी जैसे महापुरुषों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों से अवगत हो जाने पर उनका हृदय समाज में परिवर्तन देखने के लिये तड़प रहा था। किन्तु शिक्षितों की संख्या बहुत कम रहने से व्यापक और शीघ्र परिवर्तन की कल्पना साकार नहीं हो पा रही थी। वस्तुतः युवकों की इसी अकुलाहट ने साहित्य मे विद्रोह के स्वर की अभिव्यक्ति को अनिवार्य कर दिया।

## प्रथम विश्वयुद्ध का प्रभाव तथा पूँजीवादी संकट

प्रथम विश्वयुद्ध में इङ्गलैन्ड को विजय प्राप्त हुई थी, इसलिये अंग्रेज अपने साम्राज्यवादी अहंकार मे भारतीय जनता की स्वाधीनता की माँग ठुकराने लगे। जनता के किसी आन्दोलन को क्रूरता से कुचल डालने के लिये वे कमर कस कर तैयार हो गये। उनके क्रूरतम दमन के इतिहास मे जालियाँवाला बाग का काड सदा क्षोभ और क्रोध के साथ स्मरण किया जाता रहेगा। अंग्रेजों की दमनकारी

प्रवृत्ति में तेजी आने का परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे जनता और उत्तेजित होती गई और उसमें शासन के विरुद्ध गहरी घृणा का भाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। प्रथम विश्व-युद्ध से उत्पन्न स्थिति का एक दूसरा पहलू भी है। जब सन् १९१४ ई० में युद्ध छिड़ा, तो भारतीयों को नये उद्योग स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। क्योंकि विदेशों से उत्पादित वस्तुओं का आयात बन्द हो गया था और साथ ही ब्रिटिश सरकार को पहली बार भारत के औद्योगीकरण की आवश्यकता पर सोचने के लिये विवश होना पड़ा। अतः शासन की ओर से भी उद्योगपतियों को बढ़ावा मिला। प्रारम्भ में भारत का प्रबुद्ध वर्ग भी इस औद्योगीकरण अभियान में पर्याप्त सहयोग दे रहा था। इस सन्दर्भ में श्री मैथिलीशरण गुप्त की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगा—स्वदेशी भावना को व्यक्त करते हुए उन्होंने अपनी 'भारत-भारती' में लिखा है—

'वैश्यो ! सुनो, व्यापार सारा मिट चुका है देश का,
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ?
अब भी न यदि कर्त्तव्य का पालन करोगे तुम यहाँ,
तो पास है वे दिन कि जब भूखों मरोगे तुम यहाँ।
अब तो उठो हे बन्धुओ ! निज देश की जय बोल दो,
बनने लगे सब वस्तुएँ, कल, कारखाने खोल दो।
जावें यहाँ से और कच्चा माल अब बाहर नहीं,
हो 'मेड इन' के बाद बस अब 'इण्डिया' ही सब कहीं।

(भारत-भारती, पृष्ठ संख्या १६८)

लेकिन कुछ ही वर्षों में गला काट प्रतिद्वंद्विता के फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व में जबर्दस्त मन्दी आई। वस्तुओं के भाव बहुत गिर गये। इसे रोकने के लिये उद्योगों की प्रगति रोकी जाने लगी, उत्पादन कम किया जाने लगा और वस्तुओं की कीमत बढ़ाई जाने लगी। अमेरिका में मक्का जला दिया गया और एक करोड़ एकड़ की कपास को फसल नष्ट कर दी गयी। ब्राजील में कहवा के २० लाख बोरे समुद्र में फेंक दिये गये। जर्मनी में लाखों मन राई, नमक, अन्न सूकरों को खिला दिया गया तथा अन्य खाद्यान्न की उपज घटाने की चेष्टा की गई। भारत पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। यहाँ के उद्योगपति तो विदेशियों की तुलना में सब तरह से पीछे थे ही ! उन्हें इस मन्दी से प्राण बचाने के लिये मजदूरों की छंटनी करनी पड़ी, उनका वेतन बढ़ाने के बजाय घटाना पड़ा और स्वदेशी आन्दोलन से ऊपरी नाता भी तोड़कर अपने

को अंग्रेजी शासन का सहायक प्रमाणित करने के लिये विवश होना पड़ा। यह विश्वव्यापी मन्दी सन् १९३०-३१ में उपस्थित हुई थी।

इस मन्दी का मूल कारण पूंजीवाद की निकृष्ट विभाजन प्रणाली थी। जहाँ समाज की उत्पादन-क्षमता अत्यधिक बढ़ गई थी, वहीं दूसरी ओर प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप तथा भीषण शोषण-प्रक्रिया से लोगों की क्रयशक्ति में महान ह्रास हुआ था। लाखों किसान और मजदूर बर्बाद हो गये थे और बेकारी की समस्या मुँह बाये खड़ी थी।

वस्तुतः इस मन्दी ने यह प्रमाणित कर दिया कि पूंजीवाद के पनपने और विस्तार पाने का समय समाप्त हो गया है। इस पूंजीवादी संकट से बचने का मार्ग क्या है? यह प्रश्न मध्यम वर्ग के प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों को सही निदान ढूंढने के लिये विवश करने लगा। स्वभावतः लोगों का ध्यान रूस की ओर आकर्षित होता, जहाँ समाजवाद का प्रयोग सफल हो रहा था। इस प्रकार भारत की धरती पर क्रांतिकारी सन्देश लेकर समाजवाद अवतरित हुआ। सन् १९३१ के कांग्रेस अधिवेशन में प्रथम बार कृषक और श्रमिक वर्ग के लिये सुविधाओं की माँग के साथ-साथ भविष्य में समाजवादी चेतना के अनुरूप संस्था का कार्यक्रम बनाने का संकल्प व्यक्त करने वाला प्रस्ताव पारित हुआ। प्रथम बार आर्थिक उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए प्रस्ताव के प्रारम्भ में लिखा गया था कि इस कांग्रेस की राय है कि कांग्रेस, जिस प्रकार के 'स्वराज्य' की कल्पना करती है उसका जनता के लिये क्या अर्थ होगा—इसे वह ठीक-ठीक जान जाय, इसलिये यह आवश्यक है कि कांग्रेस अपनी स्थिति इस प्रकार प्रकट कर दे जिसे वह आसानी से समझ सके। साधारण जनता की तबाही का अन्त करने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता में लाखों भूखों मरने वालों की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता भी निहित हो......।' (कांग्रेस का इतिहास, प्रथम खण्ड : पट्टाभि सीतारमय्या, पृष्ठ संख्या ३१०।)

समाजवाद से कुछ बिन्दुओं पर असहमति रखते हुए भी महात्मा गाँधी ने इसका विरोध नहीं किया प्रत्युत उनके गरीब जनता के प्रति हार्दिक एवं व्यावहारिक प्रेम ने उसका मार्ग ही प्रशस्त किया। सन् १९३१ ई० में लन्दन के गोलमेज सम्मेलन में उन्होंने भाषण देते हुए कहा था—'सबसे बढ़कर कांग्रेस उन करोड़ों मूक, भूख से अधमरे लोगों का प्रतिनिधित्व करती है, जो ब्रिटिश भारत या तथाकथित भारतीय भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सात लाख गाँवों में फैले हुए हैं। हरेक स्वार्थ को, अगर वह कांग्रेस की राय में सुरक्षित रखे जाने के काबिल है, इन गूंगे करोड़ों

किसान-मजदूरों के स्वार्थों का सहायक बनना होगा। इसलिये आप बार-बार कुछ स्वार्थों में परस्पर साफ-साफ मुठभेड़ होते देखते हैं। और अगर सच्ची विशुद्ध मुठभेड़ हुई तो मैं बिना किसी हिचकिचाहट के, कांग्रेस की ओर से, घोषित करता हूँ कि कांग्रेस इन गूंगे करोड़ों किसानों के हितों की खातिर हर तरह के हितों का बलिदान कर देगी।' (हिन्दुस्तान की समस्याएँ, प० जवाहरलाल नेहरू, पृ० सं० ८६)

इस प्रकार साम्राज्यवाद एवं पूंजीवाद के दुष्परिणामों की प्रतिक्रिया-स्वरूप समाजवाद का आगमन हुआ और यह स्वाभाविक था कि समाजवाद की पगध्वनि साहित्य जगत् मे भी सुनाई पडती ! यह पगध्वनि प्रगतिवाद के रूप में प्रकट हुई।

## रूसी क्रान्ति की सफलता

प्रथम विश्वयुद्ध सामन्तवाद की मौत, पूंजीवाद के लिये एक मजबूत झटका और समाजवाद को अनुकूल वातावरण प्रदान कर समाप्त हुआ। १५ मार्च, १९१७ को रूस का शासक जार निकोलस द्वितीय मजदूर एवं सैनिक नेताओं द्वारा परिवार सहित बन्दी बना लिया गया और करेंस्की के नेतृत्व में नरम दल का समाजवादी शासन स्थापित हुआ। पुनः उसी वर्ष ७ नवम्बर १९१७ को करेंस्की के विरुद्ध लेनिन के नेतृत्व मे बोल्शेविक की क्रांति सफल हुई और तब लेनिन ने सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित कर हृदयहीन फौलाद के हाथ से शोषक-वर्ग को मसल-कुचल दिया। सन् १९१८ से १९२२ के बीच लगभग तेरह हजार प्रतिक्रियावादी मौत के घाट उतारे गये। जार परिवार समेत कत्ल कर दिया गया। अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर समाजवादी सुव्यवस्था स्थापित करने के पश्चात् २१ जनवरी, १९२४ के दिन रूस का वह महान क्रांतिकारी नेता दुनिया को अपना आखिरी 'लाल सलाम' कर सदा के लिये सो गया। इसके पश्चात् नेतृत्व का भार लौह पुरुष स्तालिन ने उठाया। उसके विवेकपूर्ण निर्देशन में समाजवाद फूलने-फलने लगा और खूब फूला-फला।

लेनिन का उद्देश्य सम्पूर्ण विश्व में क्रान्ति के माध्यम से समाजवाद स्थापित करने का था। अतः संसार की कम्युनिस्ट पार्टियों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन 'कोमिनटर्न' की स्थापना सन् १९१९ में हुई। उसकी स्थापना के पूर्व ही साम्यवाद के प्रचार-प्रसार के लिये लेनिन ने अद्भुत प्रतिभासम्पन्न वीर भारतीय क्रान्तिकारी मानवेन्द्रनाथ राय को मेक्सिको से बुला लिया था। यह मानवेन्द्रनाथ पूर्वी देशों में क्रान्तिकारी संगठन को मजबूत बनाने के उद्देश्य से अन्य दो व्यक्तियों के साथ नियुक्त किये गये।

अंग्रेज साम्यवादी साहित्य या साम्यवाद की सफलता सम्बन्धी प्रचार पर रोक लगाये हुए थे। साथ ही साम्यवाद के विरुद्ध बहुत गलत-गलत प्रचार भी किया जाता था। ऐसी स्थिति में भी श्री राय ने भारत में साम्यवाद का प्रचार क्रिया-कराया और उनसे हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन बहुत सीमा तक प्रभावित भी हुआ। सन् १९२४ के कानपुर बोल्शेविक-षड्यन्त्र में उनके नाम का भी अधिपत्र जारी हुआ था।

कहने का तात्पर्य है कि दोनों ढङ्ग से रूसी क्रान्ति की सफलता और रूस में समाजवाद के सफल प्रयोग की कहानी सुनकर भी तथा रूसी प्रचार के माध्यम से भी यहाँ के शोषित बुद्धिजीवी बहुत प्रभावित हुए। यहाँ भी रूसी साहित्यकारों की समाजवादी प्रवृत्तियों के अनुकरण पर नवीन साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसे प्रगतिवाद कहते हैं।

संक्षेप में ये ही वे परिस्थितियाँ थीं, जिनके संयोग से प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य की एक और नई क्रान्तिकारी धारा के रूप में उभर सका।

## द्वितीय प्रकरण

# प्रगतिवाद की दार्शनिक रूपरेखा

पहले हम विचार प्रस्तुत कर चुके हैं कि प्रगतिवाद का प्रेरणास्रोत मार्क्सवाद है। अतः प्रगतिवादी दर्शन से मूलतः अभिप्राय मार्क्स-दर्शन से ही है। प्रायः सभी विचारकों ने इसे मार्क्सवाद का ही साहित्यिक रूपान्तर माना है।[1] अतः प्रगतिवाद के दर्शन पर विचार करने का अर्थ है प्रमुखता से मार्क्स के दर्शन पर विचार करना।

कार्ल मार्क्स का जन्म जर्मनी में सन् १८१८ में हुआ था। उसके हृदय में दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति और प्रेम था। उसने आर्थिक दासता से मुक्त होने के लिए गरीबों को धार्मिक अंधविश्वास और व्यामोह से बाहर निकलकर शोषक वर्ग के साथ निर्णायक संघर्ष करने का संदेश दिया। उसका दर्शन विश्व की केवल दार्शनिक व्याख्या ही प्रस्तुत नहीं करता, प्रत्युत् शोषण से पीड़ित संसार को बदलने का मंत्र भी देता है। मार्क्स का सम्पूर्ण चिन्तन विश्व को बदलने की दिशा में ही नियोजित हुआ है। उसने विश्व की तात्विक व्याख्या के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन प्रस्तुत किया तथा शोषण-उत्पीड़न से जर्जर समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर समता स्थापित करने के लिए हमें साम्यवाद का राजनैतिक आदर्श प्रदान किया।

## मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार सृष्टि की अन्यतम सत्ता 'भूत' है, जो वस्तुओं का मूल रूप, इन्द्रियगोचर, परन्तु साथ ही मानवीय संवेदना-निरपेक्ष, गतियुक्त एवं अपने अन्तर के विरोधी उपकरणों के द्वन्द्व से कालान्तर में नवीन व्यवस्था का संवाहक है। यदि हम वस्तुओं और घटना-प्रवाह पर ध्यानपूर्वक दृष्टिपात करें तो हम

---

१. (क) प्रगतिवाद साम्यवाद का साहित्यिक संस्करण है। —पंत
(ख) यह साहित्य में एक राजनीतिक नारा है। —डॉ० कामेश्वर शर्मा
(ग) यह साम्यवाद का सहोदर भाई है। —शिवबालक राय

एक ओर सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ प्राप्त करेंगे और दूसरी ओर विराट् नक्षत्रों की निर्माण-प्रक्रिया दिखाई पड़ेगी, एक ओर सरलतम कोषाणुयुक्त अवयवी देखने को मिलेंगे और दूसरी तरफ अत्यन्त विकसित प्राणी, जिनके विकास एवं निर्माण की जटिलताएँ हमारी बुद्धि के समक्ष अबूझ रहस्यों के इन्द्रजाल फैला देती हैं। वस्तुओं के बीच आकार, रूप, रंग, गठन आदि अनेक गुणों को लेकर अकूत विभिन्नताएँ वर्तमान हैं। किन्तु प्रकृति के पदार्थों की विभिन्नताओं में एकता का प्रतिनिधित्व करने वाला जो मूल है, वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार 'प्रत्यय' नहीं अपितु 'भूत' है। भूत का सूक्ष्म रूप परमाणु है, तो विराट रूप नक्षत्र। भूत से ही विश्व का निर्माण हुआ है और प्रत्यय भी भूत का ही गर्भजात है।

## संवेदनानिरपेक्ष भूत

भूत की व्याख्या करते हुए लेनिन ने लिखा है Matter is objective reality existing outside our mind and communicated to us by—sensation (लेनिन की पुस्तक से उद्धृत देखिए—Man, science and sensation. जार्जी शेख्नेश्रोरोव तथा अन्य, पृष्ठ १५।) कि भूत हमारे मस्तिष्क से बाहर विषयगत सत्य है जिसके अस्तित्व का ज्ञान हमें संवेदना से प्राप्त होता है। प्रकृति की जितनी भी जटिलताओं और विभिन्न गुणों से युक्त वस्तुएँ हैं, उनका स्वतंत्र अस्तित्व है। वे मानव के लिए विषय हैं जिनकी ओर उसके विचार और क्रियाएँ निर्देशित होती हैं। हमारे देखने या सोचने पर उसका अस्तित्व निर्भर नहीं करता। अतः वे मानवीय संवेदना-निरपेक्ष अस्तित्व में हैं। अस्तित्व की इसी विशिष्टता के बल पर मार्क्सवादी-दर्शन सम्पूर्ण वस्तुओं के बीच 'भूत' की धारणा से संबंध स्थापित करता है।

भूत शाश्वत है, उसका विलोप नहीं होता। ऐसे हम देखते हैं कि कोई भी वस्तु अविनश्वर नहीं है। विज्ञान बतलाता है कि आकाश से ग्रह-उपग्रह, नक्षत्र-तारे भी एक-न-एक दिन टूटते हैं। जिस वस्तु की सृष्टि हुई, उसका विघटन भी निश्चित है। किन्तु भूत अपनी समग्रता के साथ शाश्वत है। भले ही सृष्ट वस्तुओं की मृत्यु अथवा उनका विघटन हो जाए, किन्तु उनका विलोप नहीं होता, वे किसी-न-किसी रूप में वर्तमान रहती हैं। एक पदार्थ के नाभिकों के रेडियोधर्मी विघटन से अन्य पदार्थ और स्वच्छन्द धूलिकण अस्तित्व में उभर आते हैं। एक पदार्थ के अणु टूटकर दूसरे पदार्थों के अणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं। जीवित प्राणियों की एक पीढ़ी समाप्त होते-होते उनकी दूसरी पीढ़ी तैयार हो जाती है और प्राणियों की मृत्यु का अर्थ यह

नहीं कि उनकी देहों के सम्पूर्ण अणु-परमाणु विलुप्त हो जाते हैं। विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि अनेक परिवर्तनो से होकर गुजरने वाला भूत कभी भी नष्ट नहीं होता। साथ ही मानव-समाज के युग-युगान्तर से प्राप्त अनुभव भी यह नहीं बताते कि भौतिक वस्तु कभी अनस्तित्व से अस्तित्व में आई है। इसका अर्थ हुआ कि भूत पहले से है और भविष्य मे भी रहेगा। यह काल से बँधा हुआ नहीं है और दिक् में इसको सीमाहीन व्याप्ति है।

## भूत और गति

मार्क्स के अनुसार गति भूत का स्वाभाविक धर्म है। गतिहीन भौतिक पदार्थ की कल्पना सर्वथा असंभव है। विश्व में न गतिवियुक्त भूत का दर्शन होता है और न भूत से अलग गति ही कहीं देखी जा सकती है। हाँ किसी वस्तु की विराम-स्थिति की प्रतीति हो सकती है। यह विराम भी सापेक्ष्य है। दो या दो से अधिक वस्तुओं के बीच तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाकर ही किसी वस्तु की विरामवाली स्थिति का बोध प्राप्त किया जा सकता है।

प्रत्येक वस्तु मे जो शारीरिक और रासायनिक परिवर्तन होते रहते हैं, वे भी गतिशीलता की ही पुष्टि करते हैं। जीवित प्रकृति एवं समाज मे गति-प्रक्रिया अत्यधिक जटिल हो गई है। इतिहास इसका साक्षी है कि सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—वह आर्थिक क्षेत्र हो या राजनैतिक अथवा सांस्कृतिक आदि जो भी हो—विकास और नवीकरण की प्रक्रिया कभी रुकी नहीं है। अतः इससे प्रमाणित होता है कि भूत से गति को विमुक्त करना सर्वथा असंभव है। सर्वाधिक सूक्ष्म वस्तु परमाणु में भी गतिशीलता है जिसके विद्युत अणु (Electron) नाभिकण के चारों ओर क्षिप्र गति से चक्कर काटते रहते है। गति के अभाव में विद्युत चुंबकीय क्षेत्र की भी कल्पना नहीं की जा सकती। प्रकाश भी गतिशील फोटोन के धूलिकणों का प्रवाह मात्र है। किसी भी भौतिक पदार्थ अथवा पहलू पर विचार कीजिए, आप इसी निर्णय पर पहुँचिएगा कि अस्तित्व में आने का मतलब ही है गति मे आना। सम्पूर्ण परिवर्तन तथा नवीकरण की शाश्वत प्रक्रिया का प्रतीक यह गतिभूत का मौलिक एवं सहज धर्म है, उसके अस्तित्व का व्यापक रूप है।

## विरोधि-समागम

अब प्रश्न उठता है कि इस गतियुक्त भौतिक विश्व में गतिशीलता कब से उत्पन्न हुई। धार्मिक दृष्टि वाले यह कह देंगे कि परमात्मा ने चाबी ऐंठ दी और तब

से विश्व में गतिशीलता उत्पन्न हो गई, सृष्टि और विनाश का सिलसिला प्रारम्भ हो गया। लेकिन इतना कह देने मात्र से समस्या का निदान नहीं हो जाता। चाबी दी जाए अथवा धक्का दिया जाए, इसमें बस इतना ही होगा कि एक वस्तु से गति दूसरी वस्तु में स्थानान्तरित होकर रह जाएगी। सृष्टि की जटिल प्रक्रिया का उत्तर इससे कैसे प्राप्त हो सकता है ? अतः भौतिक परिवेश के भीतर ही गतिशीलता के उद्गम का पता लगाना अपेक्षित है।

इस समस्या का निदान प्रस्तुत करते हुए मार्क्स कहता है कि गतिशीलता का स्रोत भौतिक पदार्थों में विरोधी तत्वों की उपस्थिति है। सभी भौतिक पदार्थों में विरोधी तत्व वर्तमान हैं। परमाणु के नाभिकण और विद्युत्कण परस्पर-विरोधी हैं। उन दोनों विरोधी तत्वों को एक-दूसरे से वियुक्त करने में बहुत बड़ी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। जीवित प्राणियों में भी संघर्ष चलता रहता है। समाज में भी विरोधी शक्तियाँ निरन्तर सक्रिय रहती है। किन्तु विरोधी-तत्वों के द्वन्द्व से एक ओर जहाँ गतिशीलता आती है, वहीं विकास का सिलसिला भी जारी रहता है। उदाहरण-स्वरूप प्राणियों की वंश-परम्परा और रूपान्तरशीलता के प्रभाव को देख सकते हैं। वंश परम्परा से प्राणियों की संतान, जातिगत स्वभाव और लक्षण प्राप्त करती हैं। तो भी नई पीढ़ी की जीवन-दशा ठीक वही नहीं होती जैसी उनके पूर्वजों की थी। परिवेश के बदलने से अपने पूर्वजों से भिन्न विशिष्टता लेकर नयी पीढ़ी आती है। वंश-परम्परा और रूपान्तरशीलता दोनों विरोधी हैं, दोनों में असंगति है। रूपान्तर-शीलता, वंश-परम्परा की रूढ़िबद्धता को तोड़कर कुछ नवीनता जोड़ती रहती है। वंश परम्परा भी पुनः प्राप्त उपयोगी विशिष्टताओं को सबल बनाकर आनेवाली पीढ़ी को हस्तातंरित करती है। फलस्वरूप प्राणियों की नयी पीढ़ी में नवीनता का दर्शन होता है। इस प्रकार वंश-परम्परा और रूपान्तरशीलता की पारस्परिक असंगति भी विकास का एक स्रोत प्रमाणित होती है।

## गुणात्मक परिवर्तन

भूत के गुण में परिवर्त्तन हुआ करता है। यह गुणात्मक परिवर्त्तन परिमाणात्मक परिवर्त्तन का प्रतिफल है। किन्तु परिमाण में एक निश्चित सीमा का उल्लंघन कर उपस्थित होने वाला परिवर्त्तन ही गुणात्मक परिवर्त्तन का कारण बनता है, उदाहरणार्थ कार्बन डायोक्साइड एक विषैली गैस है। जब हम सांस लेते हैं तो फेफड़ों में हवा के साथ लगभग पाँच प्रतिशत के परिमाण में वह प्रवेश करती है। किन्तु यदि हम विशुद्ध कार्बन डायोक्साइड की साँस लें तो हमारी मृत्यु हो जायेगी;

क्योंकि तब वह गैस पाँच प्रतिशत के स्थान पर शतप्रतिशत के परिमाण में गृहित होगी। इस प्रकार जीवित शरीर का मृत हो जाना गुणात्मक परिवर्त्तन का उदाहरण है। मानव-समाज में भी यह गुणात्मक परिवर्त्तन देखने को मिलता है। शोषकों का शोषण जब बढ़ जाता है, शोषित लोगों में क्षोभ पैदा होता है और वे संगठित होकर विद्रोह कर बैठते हैं। परिमाणतः शोषक के स्थान पर शोषितों का शासन स्थापित हो जाता है।

यदि परिमाणात्मक परिवर्त्तन से गुणात्मक परिवर्त्तन नहीं होता, तो पृथ्वी पर किसी भी पदार्थ के विकसित रूप का दर्शन नहीं होता। भूत की गतिशीलता और परिवर्त्तनशीलता वस्तुओं के बीच मात्र शक्ति का परिमाणात्मक विनिमय नहीं और न साधारण विकास है, अपितु भौतिक जगत् के नवीकरण की शाश्वत प्रक्रिया है। परिमाणात्मक परिवर्त्तन का गुणात्मक परिवर्त्तन में संक्रमण छलांग भरने जैसा है, यह पुरातन का ध्वंस और नवीन की सृष्टि है।

## प्रतिषेध का प्रतिषेध

भौतिक जगत अनवरत आगे बढ़ रहा है। इसका विकास चक्करदार नहीं; यह नहीं कि यह बार-बार चक्कर पुराने से नये और नये से पुराने की स्थिति में पहुँचता रहता है। बल्कि होता यह है कि भौतिक लोक निम्नतर से उन्नतर तथा सरल से जटिल रूप ग्रहण करता हुआ नित्य-प्रति विकासोन्मुख रहता है। इस क्रम में भूत की पुरानी स्थिति का प्रतिषेध होने पर नवीनता की सृष्टि होती है, पुनः इस नवीन स्थिति का भी प्रतिषध होता है और इससे भिन्न नवीनता उभर आती है।

प्रतिषेध का अर्थ यह नहीं कि पुरातन का सर्वथा विनाश हो जाता है। भूत के पुरातन रूप से ही आवश्यक मूल्य को साथ लेकर उसका नवीन रूप उद्भूत होता है। विकास की प्रक्रिया में नवीन पुरातन की सम्पूर्ण मूल्यवान विशिष्टताओं का उत्तराधिकारी होता है। नई सामाजिक व्यवस्था का आधार अतीत का भौतिक एवं आध्यात्मिक वैभव है। उस वैभव से विलगाव की शून्यता नहीं।

अतः प्रतिषेध विकास की कड़ी का प्रतीक है। इससे जो नवीन स्थिति उत्पन्न होती है, उसमें पुरातन की सम्पूर्ण मूल्यवान विरासत बनी रहती है और साथ ही वह पहले से अधिक भिन्न मूल्य से मूल्यवान बनकर आती है। इस तरह विकास प्रतिषेधों की शृङ्खला है।

इस भौतिक जगत् मे विरोधी-समागम से द्वन्द्व चलता है और द्वन्द्व से गुणात्मक परिवर्तन होता है। इस गुणात्मक परिवर्तन का ही परिणाम है—प्रतिषेध का प्रतिषेध।

इस भौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु एक-दूसरी से सम्बन्धित और परस्पर निर्भर है। जीवन का हर विभाग अनेक गहरे वस्तुगत सम्बन्ध-सूत्रो से भरा रहता है, जिनसे उसके विकास की दिशा और चरित्र निश्चय किये जाते हैं और इसके फलस्वरूप परस्पर सम्बद्ध अनेक से एक की प्रतीति होती है। प्रकृति मे वर्तमान ये पारस्परिक सम्बन्ध ही नियम कहलाते है। दर्शन के भी नियम हैं। ऊपर हमने विरोधी-समागम परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन और प्रतिषेध का प्रतिषेध—इन तीन नियमो की चर्चा की है। तीनों द्वन्द्ववाद के नियम है। ये तीनो नियम प्रकृति, समाज, संज्ञान और विचार के विकास पर समान रूप से लागू होते है। द्वन्द्ववाद उन सामान्य नियमों का विज्ञान है, जो बाह्य-जगत् और चिन्तन-जगत् दोनो की गति को निर्धारित करते हैं। द्वन्द्ववाद वस्तुओ के व्यापक अन्तर-सबम्ध और उनके विकास का सिद्धान्त है। यह विश्व को समझने की वैज्ञानिक प्रणाली है।

## भौतिक जगत और चेतना

हीगेल ने चेतना और भूत दोनों में चेतना को प्रधान माना है। उसके अनुसार चेतना के प्रभाव से ही भूत-तत्व द्वारा सृष्टि होती है। यद्यपि मार्क्स ने हीगेल के दर्शन से ही भूत और चेतना की सत्ता में अन्तर्निहित नियमो की व्याख्या करने की दृष्टि प्राप्त की, मगर उसने चेतना के बदले भूत को ही सृष्टि विकास का कारण माना और चेतना से भूत की नही, बल्कि भूत से चेतना की उत्पत्ति मानी।

"Matter is not a product of mind but mind itself is merely the highest product of matter." —Marx—SELECTED WORKS.

मार्क्स भूत को ही प्रधानता देता है। यह निश्चित है कि भूत से अलग कही चेतना का दर्शन नही होता। तो क्या भौतिक वस्तुओं के समान विचारो और अनुभवो को श्रेणीबद्ध किया जा सकता है? उत्तर नकारात्मक होगा। भौतिक वस्तुओ मे यांत्रिक, भौतिक और रासायनिक गुण वर्तमान रहते है। संवेदनाएं और विचारो मे वैसे गुण नही पाये जाते। ये संवेदनाएँ और विचार तो मस्तिष्क मे बाह्य जगत् के पदार्थों और उनके अन्तर-सम्बन्धों को प्रतिबिंबि

करने वाले आदर्श प्रतिबिंब लगते हैं। लेकिन चेतना वहीं पायी जाती है, जहाँ विचारने वाले अवयव के रूप में मस्तिष्क वर्तमान रहता है। यदि मस्तिष्क में कोई गड़बड़ी पैदा होती है तो उसका प्रभाव चेतना पर भी पड़ता है। बाह्य औषधि का प्रयोग कर जीव को चेतनाहीन अथवा सम्मोहित किया जा सकता है। इससे प्रमाणित होता है कि वह भूत पर आधारित है। शरीर विज्ञान हमें बतलाता है कि बाह्य वस्तुएँ हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित कर मस्तिष्क में संवेदनाओं को जन्म देती हैं। बाहरी उत्तेजना स्नायविक उत्तेजना में बदल जाती है और तब वह मस्तिष्क में आकर संवेदना में रूपान्तरित हो जाती है। यदि एक क्षण के लिये मस्तिष्क को बाह्य जगत् के सम्पूर्ण संकेतों से विमुक्त कर दिया जाये तो पर्याप्त विकसित रहते हुए भी वह एक भी संवेदना या विचार को जन्म नहीं दे सकता। मस्तिष्क की तुलना क्षिप्रता से घूमने वाली फिल्म के साथ की जा सकती है जिस पर यथार्थ के चित्र प्रतिबिंबित होते हैं। किन्तु मस्तिष्क पर अंकित यथार्थ का प्रतिबिंब अनन्त रूप से अन्तर्ग्रस्त शारीरिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है।

इसलिये चेतना न केवल मस्तिष्क का गुण है, प्रत्युत् भौतिक जगत् से प्रभावित होकर क्रियाशील बना रहने वाला तत्व है। चेतना सर्वोच्च सघठित भूत की अद्भुत विशिष्टता है, जिससे बाह्य जगत् मस्तिष्क के काल्पनिक चित्रों में प्रतिबिंबित होता है।

अज्ञानता से ज्ञान की ओर तथा अपूर्ण और अधूरे ज्ञान से अधिक पूर्ण ज्ञान की ओर अग्रसर होने वाले विचार की जटिल प्रक्रिया का नाम संज्ञान है। चूँकि विश्व अनन्त है, अतः संज्ञान की भी कोई सीमा नहीं। भौतिक एवं सामाजिक व्यापार ही संज्ञान की कसौटी है।

## इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

ऐतिहासिक घटनाएँ भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नियमों में बँधी रहती हैं। इतिहास के संचालक नियम मोक्ष की प्राप्ति की भावना से उद्भूत नहीं होते, अपितु वे भौतिक एवं आर्थिक कारणों पर आधारित हैं। पेट भरने और जीने की चिन्ता संसार को सृष्टि के प्रारम्भ से ही सता रही है। जीने की सुविधा जुटाने एवं भूख मिटाने के लिये हमें कुछ करना पड़ता है। इसके लिये हमें उत्पादन करना होगा और उत्पादन करने के लिये साधनों की आवश्यकता होगी। किन्तु आज जो उत्पादन के साधन हमें प्राप्त हैं, प्रागैतिहासिक काल में नहीं थे। उस समय का काम करने का ढङ्ग और उत्पादन के साधन—ये सभी आज से बहुत कम विकसित और भिन्न

थे। इनका ज्ञान हो जाने पर उस समय की मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति का अनुमान लगाना आसान हो जाता है। उत्पादन के साधन-विशेष यह अनिवार्य कर देते हैं कि तद्युगीन आर्थिक सम्बन्ध उसके अनुरूप हों। तब उन आर्थिक सम्बन्धों के अनुसार ही उस समय की राजनीति, अर्थनीति, दण्डनीति, सामाजिक व्यवस्था और शिक्षा आदि के स्वरूप निर्धारित होते हैं।

काल-विशेष के उत्पादन के साधन आगे चलकर प्रगति के अनुकूल सिद्ध नहीं होते, तो आवश्यकतानुसार द्वन्द्व-नियम से उनमें परिवर्तन होता है। स्वभावतः उन उत्पादन के साधनों पर आधारित समाज भी बदल जाता है। समाज को बदलने में हम प्रत्यक्षतः महापुरुषों का हाथ देखते हैं। लेकिन सच्चाई तो यह है कि उनकी चेष्टा युग की भौतिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल ही होती है। जहाँ उन आवश्यकताओं से बाहर की बात वे करने लगते हैं, वहाँ उन्हें असफलता ही हाथ लगती है। क्रान्तदर्शी महापुरुष और युगद्रष्टा समय की माँग बनकर पैदा होते हैं।

मानव-समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। जिन लोगों की आर्थिक समस्याएँ और आर्थिक हित समान होते हैं, उनका एक वर्ग होता है। विरोधी हित वाले उनके विरोधी वर्ग में आते हैं। समाज में प्रारम्भ से ही प्रायः दो वर्ग रहे हैं—एक वर्ग वह जिसका अधिकार उत्पादन के साधनों पर रहा है और दूसरा वह जो प्रथम वर्ग की सेवा करके उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन कर अपना जीवन-निर्वाह करता रहा है। दोनों वर्गों के स्वार्थ भिन्न हैं, इसलिये संघर्ष भी अनिवार्य है।

वर्ग-संघर्ष का आधुनिक रूप पूँजीपतियों और मजदूरों का संघर्ष है। जब उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य हो जायेगा, तब यह वर्ग-संघर्ष समाप्त हो जायेगा। जब उत्पादन के साधनों का स्वामी-वर्ग आर्थिक प्रगति में बाधा उपस्थित करने लगता है, तब क्रांति होती है। आर्थिक प्रगति उत्पत्ति के नवीन साधनों के उत्तरोत्तर आविष्कार और उनके उपयोग पर निर्भर है।

वर्तमान में पूँजीपति वर्ग प्रतिक्रियावादी बन गया है। वह वर्ग स्वयं अपने ही अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है। पूँजीपतियों में पूँजी एकत्र करने की गलाकाट प्रतियोगिता है। वस्तुओं का मूल्य कम करने के लिये बाध्य होने पर मजदूरों की छँटनी, उत्पादन में कमी और कृत्रिम उपायों से वस्तुओं का मूल्य बढ़ाने के हेतु उत्पादित वस्तुओं को बड़े परिमाण में स्वयं नष्ट कर देने के लिये उन्हें प्रयत्नशील होना पड़ता है

मार्क्सवादियों का विश्वास है कि पूंजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण सशस्त्र क्रांति से ही सम्भव है। अब न्याय और धर्म की दुहाई देने से काम नहीं चलेगा। जीवन की प्रेरक शक्तियाँ आर्थिक स्वार्थ है, धर्म और ईश्वर का भय नहीं। पुरानी आर्थिक व्यवस्था से लाभ उठाने वाला पूंजीपतिवर्ग पुराने जीवनादर्शों का सहारा लेकर नवीन क्रांतिकारी शक्ति से लोहा लेने का अनथक प्रयास करता है। अतः जो आदर्श पुराने पड़ गये हैं, जो ख्याल जमाने के अनुकूल नहीं रहे उनका विरोध करना आवश्यक हो जाता है।

## मार्क्सवाद और साहित्य

साहित्य-सम्बन्धी मार्क्सवादी धारणाओं को मार्क्स और एंजिल्स के यत्र-तत्र व्यक्त मन्तव्यों के आधार पर स्पष्ट करने का कार्य उनके अनुयायियों ने किया, स्वयं मार्क्स और एंजिल्स ने इस पर बहुत कम लिखा है। उनमें प्रमुख विचारक लेनिन, मैक्सिम गोर्की, प्लेखानोव, रैल्फफाक्स, काडवेल, इलिया एह्रेनबुर्ग, लूनाचार्स्की, माओत्से तुङ्ग आदि हैं। हम यहाँ उनके द्वारा व्यक्त विचारों को अलग-अलग न रखकर उन्हें प्रमुख बिंदुओं में विभाजित कर प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। यहाँ पर हमें यह भी ध्यान रखना है कि सन् १९३४-३५ के पूर्व ही जो मन्तव्य व्यक्त हुए हों उन्हीं को आधार माना जाय। यह इसलिये आवश्यक है कि हमारे यहाँ मार्क्सवाद की साहित्यिक मान्यताओं से प्रेरित प्रगतिवाद का उदय सन् १९३४-३५ के ही आसपास हुआ था।

## मार्क्सवाद के अनुसार :—

(१) साहित्य का उत्स लोक-जीवन है—आसमान का फरिश्ता साहित्य नहीं लिखता है, अपितु इस धरती के लोग लिखते हैं, 'लोक-जीवन की हँसी-खुशी, रुदन-हास और कार्य-कलाप उन्हें लिखने के लिये प्रेरित करते हैं। जो साहित्यकार लोक-जीवन की उपेक्षा कर अपनी मन-तरंगिता में ही डूबता-उतराता रहता है, उसकी कृति अभिनन्दनीय नहीं हो सकती। साहित्य का कच्चा माल लोक-जीवन में ही वर्तमान है।' साहित्य को लोक-जीवन से ही रस ग्रहण करना चाहिये। जो कुछ है वह धरती पर है, आसमान में नहीं। धरती का जीवन-संगीत ही साहित्य का सौंदर्य है।

(२) साहित्य जीवन के लिये है—कलावादी साहित्यकार साहित्य-कला को लोकोत्तर मानता है। यह कलावाद पूर्णतः बुर्जुआ संस्कृति की कुत्सित मनोवृत्ति का परिणाम है। वस्तुतः साहित्य मानव के लिये है, जीवन और

जगत् के लिये है, यह मात्र कला विकास नही है । साहित्य-कला के माध्यम से अभिव्यक्त लोक-जीवन के चित्र और छवियाँ, विचार और भावनाएँ, अधिक बलवान और व्यापक बनकर हमे अभिभूत कर लेती हैं। यदि साहित्य स्वान्तः सुखाय लिखा जाता तो उसे लिखने, छापने और बेचने की आवश्यकता ही नहीं थी। दूसरों पर अपने विचार और भावना को प्रकट करने के उद्देश्य से ही साहित्य की सृष्टि की जाती है। साहित्यकार सामाजिक प्राणी है। साहित्य यद्यपि मानव-समाज के लिये लिखा जाता है, किन्तु वह इस वर्ग विभक्त समाज में समान रूप मे सर्वमान्य नही हो सकता। कोई भी साहित्यिक कृति जाने-अनजाने, लेखक जिस वर्ग का प्रतिनिधि है उस वर्ग के मनोविज्ञान को प्रतिबिंबित करती है। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि लेखक किसी भी वर्ग का क्यों न हो, यदि उन पर विभिन्न वर्गों का प्रभाव है तो वह प्रभाव अपने मिश्रित रूप में साहित्यकार की कृतियो मे अभिव्यक्ति पाता है।

**(३) आर्थिक स्थितियाँ साहित्य की चिन्ताधारा को प्रभावित करती हैं—** समाज की जैसी आर्थिक स्थिति रहती है, उसका प्रभाव साहित्य पर निश्चित रूप से पड़ता है। समाज में उत्पादन का कार्य चलता रहता है। इस उत्पादन-प्रक्रिया के क्रम मे सामाजिक प्राणियो के बीच सवंध स्थापित होते रहते हैं और समयानुसार बदलते भी हैं। इन उत्पादन सबंधो का संश्लिष्ट रूप ही युग विशेष का आर्थिक ढाँचा कहलाता है। इस आर्थिक ढाँचे के अनुरूप हमारे राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक, साहित्यिक दृष्टि-कोण नया रूप और नयी चेतना ग्रहण करते हैं। आज का आर्थिक ढाँचा मध्ययुग के आर्थिक ढाँचे से बिलकुल भिन्न है। अतः हमारा आधुनिक साहित्य मध्ययुगीन साहित्य की तुलना में बहुत बदला हुआ है। मध्ययुग में सामंतवादी आदर्श था, आज साहित्य का आदर्श पूँजीवाद से आगे बढ़कर समाजवाद हो गया है। लेकिन आर्थिक स्थिति में परिवर्तन का प्रभाव साहित्य पर तत्काल और सीधा नही पड़ता। साथ ही यह भी दृढता से नही कहा जा सकता कि आर्थिक परिवर्तन ही साहित्य की चिन्ताधारा को मोडने का एकमात्र कारण है; क्योंकि साहित्य निष्क्रिय होकर किसी उलट-फेर के प्रभाव को ग्रहण करने वाला नही होता, बल्कि वह कला-चेतना की सक्रिय भूमिका है। लेकिन इतना तो मानना ही होगा कि साहित्य का विकास आर्थिक विकास से प्रभावित होता है। उदाहरणार्थ हिन्दी रीतियुगीन साहित्य में विलास-प्रसाधनों की प्रचुर चर्चा सामन्तों और राजाओ की सम्पन्नता का ही परिणाम है।

**(४) आर्थिक स्थितियाँ भी साहित्य से प्रभावित होती हैं—** जब कोई आर्थिक . . अधिकाश जनता के लिए उत्पीड़क एवं अनुपयुक्त सिद्ध होती है, तो उसकी

प्रतिक्रिया साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगती है। साहित्य प्राचीन व्यवस्था के स्थान पर नवीनता को बिठाने के लिए क्रान्ति का मार्ग पहले से ही प्रशस्त करने लगता है। पुनः जब आर्थिक धरातल बदल जाता है तो विचार भी बदलने लगते हैं। अतः यह माना जायगा कि अर्थ-व्यवस्था और साहित्य एक-दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं। काडवेल ने तो स्पष्ट कहा है कि कविता को तत्वतः वैचारिक, राष्ट्रीय या ऐसा ही कुछ विशिष्ट नहीं समझना चाहिए बल्कि उसे आर्थिक रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। (Poetry is to be regarded then, not as anything racial, national, genetic or specific in its essence but as something economic," —Illusion and Reality, page 1०)

(५) आर्थिक स्थिति से प्रत्यक्षतः असम्बद्ध विचार-प्रक्रिया भी साहित्य को गति देती है— समाज के विकास के लिए आर्थिक एवं वैचारिक दोनों धरातलों की आवश्यकता है। आर्थिक आधार मौलिक है, जिस पर वैचारिक महल टिका हुआ है। किन्तु प्रत्यक्षतः विचार-लोक स्वतन्त्र-रूप से भी क्रियाशील दिखता है। समाज में विचारों के आदान-प्रदान से विकास में तेजी आती है। ये विचार साहित्य में अभिव्यक्त होते है और इस प्रकार साहित्य प्रगतिशील तत्वों से समृद्ध होता रहता है।

(६) साहित्य का उद्देश्य श्रमिक वर्ग के हितों का संरक्षण है —साहित्य समाज की उपज है और यह किसी न किसी सामाजिक लक्ष्य की ओर उन्मुख रहता है। कला या साहित्य की कसौटी समाज ही है। सौंदर्य सिद्धान्तों के मार्ग पर चलते हुए भी साहित्यकार की सर्जनात्मक प्रतिभा सामाजिक लक्ष्य की उपेक्षा नहीं कर सकती। वर्तमान युग में श्रमिक वर्ग जिसमें मजदूर, किसान और बुद्धिजीवी आते हैं— साहित्य से सहानुभूति की अपेक्षा रखता है। श्रमिक वर्ग के उद्धार के लिये, शोषण का अंत कर वर्गहीन समाज की स्थापना करने के उद्देश्य से साहित्य के लिये सर्वहारा वर्ग का पक्षधर होना आवश्यक है। लेनिन ने तो स्पष्ट रूप से इसे दलीय अर्थात् साम्यवादी होने की सिफारिश की है।[1] उसकी दृष्टि में समाज में वर्ग-चेतना को उद्बुद्ध कर क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करने के लिये साहित्य का सहयोग नितान्त अपरिहार्य है। वर्ग-चेतना सम्पन्न साहित्य का प्रणयन यद्यपि परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों की स्वाभाविक प्रक्रिया है, तो भी प्रतिक्रियावादी तत्वों के विरुद्ध अनुकूल वातावरण तैयार करने के लिये संगठित प्रयास करना प्रगतिकामियों का धर्म हो जाता है। चूंकि मार्क्सवाद मात्र समाजशास्त्रीय सिद्धान्त नहीं, बल्कि यह समाज-निर्माण

१. देखिये —On Literature and Art, पृ० २३।

का सक्रिय कार्यक्रम भी प्रस्तुत करता है, अतः स्वाभाविक है कि यह साहित्यकारों से सर्वहारा वर्ग की विजय के लिये वर्ग-संघर्ष में जागरूकता की अपेक्षा करेगा। साहित्य का मूल उद्देश्य श्रमिक वर्ग-सर्वहारा वर्ग का हित-साधन है। इस दृष्टि से जो भी रचना सर्वहारा वर्ग की विजय और विकास में सहायक है, वह अच्छी है। जो उसे क्षति पहुँचाती है, बुरी है।[1]

(७) साहित्य-सृष्टि के लिए यथार्थवादी पद्धति सर्वोत्कृष्ट है— मार्क्सवाद से इतर प्रगतिशील चिंतक बेलिन्स्की और चर्निशेवस्की ने बहुत पहले यथार्थवाद के महत्व का प्रतिपादन किया था। उन दोनों ने जीवन और यथार्थ का चित्रण ही कला का मूल उद्देश्य बतलाया है। उनके अनुसार कला का लक्ष्य मात्र सौंदर्य नहीं, बल्कि जीवन और वास्तविकता की प्रतिष्ठा है। वास्तविकता में ही सौंदर्य है।

एंजिल्स के अनुसार यथार्थवाद विशिष्ट परिस्थितियों में विशिष्ट पात्रों का वास्तविक चित्रण है। (Realism, to my mind, implies, besides truth of detail, the truthful reproduction of typical characters under typical circumstances."—Realism in Art.)

साहित्यकार भले ही किसी राजनैतिक वाद का समर्थक हो, यदि वह वस्तु के प्रतिपादन में यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय देता है तो वह सही मानों में कलाकार है। यथार्थवाद किसी प्रगतिशील राजनीतिक 'वाद' के अभाव में भी साहित्यिक रचना को मूल्यवान बना सकता है।

रैल्फ फाक्स की दृष्टि में भाव-जगत और बाह्य-जगत में कोई विरोध नहीं है। दोनों के समन्वय से ही यथार्थवाद की प्रतिष्ठा हो सकती है।

हावर्ड फास्ट यथार्थवाद को वस्तु का प्रकृत अथवा यथावत् चित्रण नहीं मानता। उसके अनुसार यथार्थवाद वस्तुगत यथार्थ एवं साहित्यकार के आत्मगत यथार्थ की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का सश्लिष्ट परिणाम है। वह लिखता है कि यह सोचना भूल होगी कि यथार्थ का साहित्यिक स्वरूप यथार्थ के वस्तुगत स्वरूप के अनुरूप होता है।[2] यथार्थता बहुपक्षीय है। उसके अनेक पक्षों से किसी एक का चुनाव

---

१. "......Everything that aids the development and victory of the proletariate is good; everything that harms it is evil"

—On Literature and Art—लूनाचार्स्की, पृ० १६।

२. L TERATURE AND REALITY—हावर्ड फास्ट।

ही यह प्रमाणित करता है कि यथार्थ निरपेक्ष और तटस्थ नही है। यह परिवर्तनशील भी है।

हावर्ड फास्ट के मत से श्रेष्ठ कला-सृष्टि के लिये यथार्थवादी पद्धति ही सर्वोत्तम है। यथार्थ का अंकन यन्त्रवत् नही होता; क्योंकि कलाकार यंत्र नही अपितु विचारशील स्रष्टा है।

यथार्थवाद को समाजवाद से सम्बद्ध करने वालों में सबसे पहले मैक्सिम गोर्की का नाम लिया जायेगा। आगे चलकर मार्क्सवादियों ने समाजवादी यथार्थवाद को ही स्वीकृति प्रदान की।

यथार्थवाद समाज का सही चित्र तो प्रस्तुत करता है किन्तु यह ह्रासोन्मुख शक्ति की आलोचना मात्र बनकर रह जाता है। समाजवादी यथार्थवाद कुंठा, मौत, घुटन, उत्पीडन के बीच रह कर भी अनवरत सघर्ष करते हुए ह्रासोन्मुखी शक्तियों पर विजय प्राप्त कर जीवन का स्वर मुखरित करने वाले चरित्र को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विकासमूलक धारणा के प्रति आस्थावान है। कोई भी प्रतिगामी-प्रतिक्रियावादी तत्व स्थाई नही रह सकता, उसे नये शक्तिशाली एव प्रगतिशील तत्व के लिये स्थान रिक्त करना ही पडेगा। समाजवादी यथार्थवाद समाज-विकास की इस धारणा से प्रेरित होकर वस्तुगत यथार्थ को चित्रित करता है। आशावादिता इसका मूल स्वर है। दुःखान्त कृति मे भी पराजय के आगे यह घुटना नही टेकता।

समाजवादी यथार्थवाद समाज के यथार्थ का समाजवादी दृष्टि से अकन है।[1] समाजवादी यथार्थवाद बाह्य और आतरिक दोनो प्रकार के द्वन्द्वो का चित्रण प्रस्तुत करता है। यह ऐसे चरित्रो को प्रस्तुत करता है जो 'टाइप' और व्यक्ति दोनों है। यथार्थ को पूरी सजीवता के साथ उभार कर प्रस्तुत करना समाजवादी यथार्थवाद का आग्रह है। किन्तु सामाजिक यथार्थवादी कलाकार अपनी रचना मे ह्रासोन्मुखी शक्ति की विजय के प्रति क्षोभ और प्रगतिशील शक्ति की पराजय से उत्पन्न निराशा में भी बलवान आस्था व्यक्त करता चलता है।

समाजवादी यथार्थवाद नग्नतावादी यथार्थ चित्रण को घृणा की दृष्टि से देखता है। उसे ऐसे चित्रण से भी घृणा है जिसमे कलाकार की वैयक्तिक मानसिक कुंठाएँ अभिव्यक्ति पाती है। यह कलाकार से यह अपेक्षा रखता है कि उसकी ऐतिहासिक सूझ

१. आलोचना अंक २८—समाजवादी यथार्थवाद, शिवकुमार मिश्र, पृ० २७।

स्पष्ट हो और अपने युग की क्षयी प्रवृत्तियों के साथ संघर्षरत प्रगतिशील तत्वों को पहचाने।

(८) व्यक्ति और समाज दोनों साहित्य के विषय हैं—यद्यपि मार्क्सवाद समाज को सर्वाधिक महत्व देता है किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वह व्यक्ति के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा करता है। प्रारंभ में सोवियत संघ के साहित्यकार भ्रमवश समाजवादी जोश में जन मनोविज्ञान को ही विशेष महत्व दे रहे थे, लेकिन अपनी भूल का उन्हें शीघ्र ही ज्ञान हो गया। चूंकि व्यक्तित्व का जन्म और विकास समाज में होता है, इसलिये उसके सामाजिक रूप के साथ उसकी विशिष्टता को अभिव्यंजित करना चाहिये। व्यक्ति क्या करता है और कैसे करता है इन दोनों का सफल चित्रण अपेक्षित है। तो भी मार्क्सवाद समाज की उपेक्षा करने वाले अहंवादी स्वर को नहीं स्वीकार सकता।

(९) साहित्य का राजनीति से गहरा सम्बन्ध है—राजनीति सामाजिक यथार्थ का अंग है और साहित्य सामाजिक यथार्थ की रागात्मक अभिव्यक्ति। अतः यह स्वाभाविक है कि राजनीति से साहित्य कभी भी पराङ्मुख नहीं रह सकता। कला अथवा साहित्य को राजनीति से पृथक करने की बात बेतुकी लगती है।

मार्क्सवाद साहित्य पर राजनीति थोपने के पक्ष में नहीं है। इसकी दृष्टि में साहित्य में गलत राजनैतिक दृष्टिकोण का विरोध होना चाहिये। युग के अनुसार राजनैतिक आदर्श भी परिवर्तित होते रहते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थक मार्क्सवाद सभी युगों के लिए शाश्वत राजनैतिक समाधान प्रस्तुत करने की पागलपन भरी बात नहीं कर सकता।

लेनिन ने साहित्य को दल-विशेष का पक्षधर बनाने पर बल इसलिए दिया था कि वह किसी भी स्थिति में अपने साम्यवादी कार्यक्रम के क्रियान्वयन में अड़चन देखना नहीं चाहते थे। अतः जनता में साम्यवाद के प्रति अटूट विश्वास जगाने के लिये वह साहित्य को पक्षधर बनाने के पक्ष में थे।

मार्क्सवाद यह नहीं चाहता है कि साहित्य में राजनैतिक कार्यक्रम की चर्चा हो। यदि कोई साहित्यकार ऐसा करता है तो वह साहित्यकार नहीं है और न उसकी रचना ही साहित्य की कोटि में परिगणित होगी। वस्तुतः साहित्य का मूल उद्देश्य युगानुकूल प्रगतिशील तत्वों को पहचान कर मानववादी दृष्टिकोण से सामाजिक यथार्थ को चित्रित करना है।

(१०) साहित्यकार की सफलता वैयक्तिक आस्थाओं एवं अभिरुचियों से तटस्थ रहकर यथार्थ चित्रण करने में है—मार्क्सवादी दृष्टिकोण न रखते हुए भी चार्ल्स

डिकेन्स, बालजाक, फ्लावेयर, जोला आदि साहित्यकार मार्क्सवादियों द्वारा श्रेष्ठ कलाकार बतलाये गये। क्यों ? इसलिये कि इन कलाकारों ने अपनी आस्थाओं, धारणाओ एवं अभिरुचियों से तटस्थ होकर अपने युग, अपने देश के समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था, धार्मिक दृष्टिकोण आदि का ईमानदारी से सजीवता और सफाई के साथ यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। समाजवादी-यथार्थवादी भी इससे भिन्न मत नही रखता। केवल यथार्थ चित्रण मे प्रगतिशील तत्वों को ढूंढ निकालने पर इनका विशेष आग्रह है।

(११) साहित्य परम्परा की उपेक्षा नहीं करता—अतीत ही वर्तमान को जन्म देता है। परम्परा से प्राप्त साहित्यिक विरासत एवं सांस्कृतिक वैभव समाज की बहुमुखी प्रगति मे सहायक होते है। मार्क्सवाद इनके उपयोग के पक्ष मे है, लेकिन वह पुनरुत्थानवाद और अतीत की ओर लौटने का विरोध करता है। वह परम्परा के उन्ही तत्वो को स्वीकारता है, जो युगानुकूल हो और घिस-पिट नही गये हों। परम्परा का विशेष महत्व इस बात को लेकर भी है कि यह ऐतिहासिक समझ को स्पष्ट एव समृद्ध करने के साधन प्रस्तुत करती है।

(१२) प्रेपणीयता और परोक्ष कथन कलात्मक श्रेष्ठता के परिचायक है—मार्क्सवाद वस्तु और शिल्प दोनों को समान रूप से साहित्यिक कृति के लिये निर्णायक नही मानता। इसकी दृष्टि मे निर्णायक भूमिका सदा विपयवस्तु की होती है। जहाँ तक शिल्प अर्थात् साहित्य की भापा एव शैली का प्रश्न है, इसे मार्क्सवाद के अनुसार विपयानुकूल यथोच्चतम अभिव्यंजकतापूर्ण और पाठक वर्ग पर वलवान सस्कार डालने योग्य होना चाहिये। साथ ही यह स्मरण रहे कि साहित्य परोक्ष कथन की कला है, यदि किसी कृति मे कथ्य को नग्न रूप में आक्रामण ढङ्ग से व्यक्त किया जाता है तो उस कृति का अहित ही होता है।[1] कलाकृति की शैली की विशिष्टता इस बात मे है कि विचार सायास व्यक्त न किये जाये, प्रत्युत् वे कृति मे स्वतः स्फूर्त हो। शिल्प ऐसा हो कि उसके माध्यम से व्यक्त भावनाओं के प्रति अधिक से अधिक लोगो की स्वीकृति जीती जा सके। उत्कृष्ट कलात्मकता रचना को शक्तिशाली बनाती है।

लेकिन शिल्प यदि पूर्णतः दुरुह और अभिजातीय हो जाता है तो उसमें प्रेपणीयता का नितान्त अभाव खटकने लगता है। ऐसी स्थिति मे कला जीवन से दूर होकर मात्र मनोरंजन का विषय रह जाती है, अतः यह अभिनन्दनीय नहीं।

1. On literature and Art.—लूनाचार्स्की, पृ० सं० १६।

मार्क्सवाद प्रचारवादी कला के विरुद्ध है। यह बस इतना चाहता है कि शिल्प अपने कथ्य का ऐसा सादा किन्तु आकर्षक परिधान हो जो नग्नता को छिपाकर उसके सौंदर्य को दीप्ति प्रदान करे। शिल्प को प्रसाद गुण सम्पन्न एवं प्रांजल होना चाहिये।

प्रसाद गुण का यह तात्पर्य नहीं कि सम्पूर्ण साहित्य को असभ्य कृषक मजदूर वर्ग के स्तर पर लाकर रख दिया जाय।[1] तो भी महाप्रतिभा-सम्पन्न कलाकार वह है, जो मूल्यवान एवं जटिल सामाजिक विचारों को सबल कलात्मक सरलता से अभिव्यक्ति प्रदान करता है और अपने शिल्प की अद्भुत प्रेषणीयता के बल पर लाखों-लाख पाठकों के हृदय को आसानी से छू लेता है।

## प्रगतिवाद और फ्रायड का मनोविश्लेषण

चूँकि फ्रायड का मनोविश्लेषण किसी पारलौकिक शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार न कर *मानसिक प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण* प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, अतः स्वाभाविक है कि यह प्रगतिवाद का ध्यान आकर्षित करता। मनोविज्ञान को अन्य प्राकृतिक विज्ञानों में स्थान दिलाकर फ्रायड ने यह प्रमाणित कर दिया कि मन का भी अध्ययन वैज्ञानिक रीति से किया जा सकता है। यहाँ सर्व-प्रथम फ्रायड की मनोविज्ञान सम्बन्धी मौलिक स्थापनाओं की चर्चा कर लेना आवश्यक है। फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व का निर्माण तीन तत्वों—इद (इड), अहम् (इगो) और पराहम् (सुपर इगो) के सामंजस्य से होता है। अंगों में आंतरिक या बाह्य उद्दीपन से उत्पन्न उत्तेजना अर्थात् तनाव की स्थिति में ही जीवन के सुख तत्वों की पूर्ति करना 'इद' का प्रमुख कार्य है। इद विचार नहीं करता, यह केवल इच्छा या कार्य करता है। आवेगात्मक प्रेरक क्रिया और बिम्ब रचना अर्थात् इच्छा-पूर्ति—ये दो इद की प्रक्रियायें है।

इद की प्रक्रियाओं से अतिजीविता (सरवाइवल) और प्रजनन—इन दो विकासमूलक महालक्ष्यों की पूर्ति की विशेष सम्भावना नहीं है। इन लक्ष्यों की सिद्धि के लिये बाह्य परिवेश का ध्यान रखना पड़ता है। उसे या तो परिवेश के अनुकूल बनकर अथवा परिस्थिति को ही अनुकूल बनाकर इष्ट को प्राप्त करना पड़ता है। अनुकूल बनने-बनाने की प्रक्रिया से एक नई मनोवैज्ञानिक व्यवस्था उभर आती है जिसे अहम् कहते है। अहम् सुख तत्वों के बदले यथार्थ तत्व से परिचालित होता है। इसका उद्देश्य इद द्वारा प्रेरित भावना को तब तक रोके

1. On literature and Art.—लूनाचार्स्की, पृ० सं० २२।

रखता है जब तक की उस वस्तु की प्राप्ति न हो जाय जिससे आवश्यकता की पूर्ति सामाजिक स्तर पर सम्भव है। अहम् को मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का एक ऐसा जटिल संगठन मान सकते हैं जो इद तथा बाह्य जगत् के बीच अभियोजन निमित्त मध्यस्थ के रूप में कार्य करता है।[1] सन्तुष्टि प्रदान करने वाले यथार्थ तत्व का परीक्षण एवं उसका प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृति, विचार तथा कर्म आदि अनेक मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को इनसे प्रेरणा मिलती है। इससे व्यक्तित्व सन्तुलन का कार्य सम्पादित होता है। अहम् के विकास की रूपरेखा आनुवंशिकता द्वारा निर्धारित होती है।

पराहम् व्यक्तित्व की नैतिक आचार संहिता है। माता-पिता के सद्-असद्, पाप-पुण्य सम्बन्धी धारणाओं को आत्मसात् करने के फलस्वरूप बच्चे के अहम् से इसका विकास होता है।

पराहम् के दो उपतन्त्र हैं—आदर्श अहम् और अन्तर्विवेक। जिन नैतिक अवधारणाओं के लिये बच्चे पुरस्कृत होते हैं वे ही आदर्श अहम् हैं। दण्डादि से नैतिक धारणा के विकास को प्राप्त करने वाली क्षमता को अन्तर्विवेक कहते हैं। इस प्रकार अहम् इद से उत्पन्न होता है और पराहम् अहम् से।

## व्यक्तित्व की गतिशीलता

व्यक्तित्व की गतिशीलता एवं कर्म करने की क्षमता प्रदान करने वाली मनः ऊर्जा कही जाती है। यह प्राणशक्ति से प्राप्त होती है। प्राणों की ऊर्जा मनः ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है।

मनः ऊर्जा का स्रोत इद है। इद की ऊर्जा जीवन तथा मृत्यु की मूल प्रवृत्तियों की तुष्टि में प्रयुक्त होती है। यह अहम् और पराहम् को भी क्रियाशील करती है। अहम् और पराहम् प्राप्त मनः ऊर्जा को दो सामान्य उद्देश्यों पर व्यय करते हैं। या तो यह तृप्ति प्रदान करने वाली वस्तु के वरण में अथवा अवरण में योग देती है। अवरण मूलतः चिन्ता को कम करने तथा पीड़ा से बचने के लिये स्थापित होता है। कोई व्यक्ति क्या सोचता है, क्या करता है—यह उत्तेजक तथा प्रतिरोधक शक्ति के सापेक्ष बल द्वारा निश्चित होता है।

## व्यक्तित्व का विकास

(१) स्वाभाविक विकास तथा (२) विफलताओं पर विजय पाना, कष्ट से बचना, समस्याओं को हल करना, चिन्तामुक्त करना—ये दो प्रमुख अवस्थाएँ व्यक्तित्व

१. फ्रायड : मनोवैज्ञानिक प्रवेशिका—कैल्विन एस० हाल, पृ० सं० २६।

के विकास के कारण है। सीखने के अन्तर्गत तदात्मीकरण, विस्थापन, उदात्तीकरण, मुयोजन, समझौते, त्याग, क्षतिपूर्ति करना तथा आत्मरक्षा के विन्यास आते हैं।

व्यक्तित्व की इन युक्तियों में प्रवृत्तिमूलक विषय-वरणों के स्थान पर नये विषय-वरणों के विकल्प निहित हैं। इनके अन्तर्गत अवरण भी आते हैं, जो प्रवृत्तिमूलक वरणों का विरोध करते हैं। अहम् तथा पराहम् द्वारा निर्मित वरण और अवरण तथा इनके बीच की क्रिया-प्रतिक्रिया उस स्वरूप के लिये उत्तरदायी है, जिसमें व्यक्तित्व का विकास होता है। (फ्रायड—मनोवैज्ञानिक प्रवेशिका—कैल्विन एस० हाल, पृ० सं० १०१।)

## फ्रायड का यौनवाद

यौन भावना को अत्यधिक महत्व देने के कारण फ्रायड के सिद्धान्त को यौनवाद भी कहा जाता है। व्यक्तित्व में काम-वृत्ति का विकास सम्बन्धी उनकी मान्यतायें ध्यातव्य हैं।

फ्रायड के अनुसार सुख-प्राप्ति के लिये किसी भी दैहिक क्षेत्र का प्रयोग काम-वृत्ति का ही परिचायक है। प्रधान कामोत्तेजक क्षेत्र तीन हैं—मुख, गुदा और जननेन्द्रियाँ। मुखद्वार में वांछित वस्तु के स्पर्श से रचनात्मक सुख की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। शिशु जब अपनी माँ के स्तन को मुख में लिये रहता है, उसकी मूल काम-वृत्ति की तुष्टि होती है; क्योंकि उस अवस्था में काम-वृत्ति का क्षेत्र जिह्वा रहती है। यदि मुख द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों में विफलता मिलती है तो विस्थापनों एवं उदात्तीकरणों के माध्यम से अन्य चारित्रिक लक्षण प्रकट होते हैं। उदाहरणस्वरूप उपार्जन की इच्छा बचपन में पर्याप्त भोजन या प्यार न मिलने के फलस्वरूप विकसित होती है। जो बालक दतकट्टा है, बड़ा होने पर शाब्दिक व्यंग्य, तिरस्कार आदि के माध्यम से दंश प्रहार कर सकता है अथवा वकील, राजनीतिज्ञ या टिप्पणी लिखने वाला सम्पादक बन सकता है। मुख की क्रियाएँ विस्थापन या उदात्तीकरण के माध्यम से जीवन के अनेक पक्षों में यथा व्यक्ति के वैयक्तिक आभ्यंतर संबंधों, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक विचारों, सांस्कृतिक सौन्दर्यपरक एवं अन्य बाह्य क्रियाशीलनों तथा रुचियों में अभिव्यक्त होती रहती है।

गुदा क्षेत्र—गुदा क्षेत्र में मल की उपस्थिति से तनाव उत्पन्न होता है और मलोत्सर्ग से तनाव का विसर्जन होते समय सुख मिलता है। माँ अथवा पिता द्वारा प्रदत्त शौच-प्रशिक्षण प्रवृत्ति-मूलक वरण तथा बाह्य प्रतिरोध के मध्य संघर्ष है। इसका परिणाम व्यक्तित्व के निर्माण में प्रकट होता है। शौच,नियंत्रण और उत्तरदायित्व जैसी

पहलुओं पर दृष्टिकोण निर्धारण में बहुत दूर शौच प्रशिक्षण का प्रभाव पड़ता है। गुदा मार्ग में मल का हल्का दबाव विषय तुष्टि दे सकता है, ऐसी स्थिति में पूर्ण मलोत्सर्ग ही सुख-समाप्ति का कारण बन जाता है। यदि व्यक्ति इस प्रकार के रत्यात्मक सुख पर स्थिर हो जाता है, तो यह भाव संग्रह करने, अपने पास रखने तथा वस्तुओं पर अधिकार करने की सामान्य रुचियों में विकसित हो सकता है। (फ्रायड—मनोविज्ञान प्रवेशिका—केल्विन एस० हाल, पृ० ८६)।

जननेन्द्रियाँ—इस प्रमुख सुख क्षेत्र में जननेन्द्रियाँ आती हैं। बचपन में लड़का माँ से प्रेम करता है। कामोत्तेजना के बढ़ने पर उसका प्रेम अचेतन रूप में मातृ-वासना में परिवर्तित हो जाता है और अपने प्रतिद्वन्द्वी पिता से ईर्ष्या करने लगता है। ऐसी स्थिति में उसकी माँ के प्रति वासना और पिता के प्रति विरोध से उसके व्यक्तित्व में ईडिपस ग्रंथि का विकास होता है। किन्तु पिता की ओर से दंडित होने का भय उसे होने लगता है। वह भय अंडोच्छेदन-चिन्ता कहा जाता है। उसे भय लगता है कि बालिका की तरह उसके लिंग को भी काट दिया जायगा। अंडोच्छेदन-चिन्ता से मातृ-वासना दब जाती है और ईडिपस ग्रंथि लुप्त हो जाती है। माँ की ओर से निराशा मिलने से भी इस ग्रंथि के लोप होने में सहायता मिलती है। इसके पश्चात् लड़का अपने शरीर की लैंगिक तथा विरोधी लैंगिक विशेषताओं के अनुरूप पिता अथवा माँ के साथ तादात्मीकरण स्थापित कर लेता है। इसी तादात्मीकरण से पराहम् की सृष्टि होती है। अतः यह पराहम् ईडिपस ग्रंथि की सन्तान है। बालिका जब अपने लिंग को बालक के लिंग के समान उभरा हुआ नहीं देखती तो उसे माँ पर सदेह होने लगता है कि उसी ने उसका अंडोच्छेदन करा दिया है। तब वह पिता से प्रेम करने लगती है। यह प्रेम ईर्ष्यावश पैदा होता है; क्योंकि वह जानती है कि पिता के पास एक ऐसी वस्तु है जो उसके पास नहीं। इसे शिश्न-स्पर्धा कहा जाता है। यह भी अंडोच्छेदन-ग्रंथि के अन्तर्गत आती है। इस अंडोच्छेदन-ग्रंथि से भी ईडिपस ग्रंथि का जन्म होता है। पिता को पाने की असंभाव्यता के कारण यह अचेतन मन में दबा दी जाती है।

इस प्रकार अंडोच्छेदन-ग्रंथि एवं ईडिपस ग्रंथि पाँच वर्ष की अवस्था तक कार्य करती हैं जो मनुष्य की मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देती है। छः से बारह वर्ष की तथा तेरह से अट्ठारह वर्ष की अवस्था-ये दोनों अवस्थाएँ भी यौन-भावना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। किन्तु जीवन के प्रथम पाँच वर्ष व्यक्तित्व-विकास की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

जहाँ विकृत काम-चेष्टाएँ प्रकृत मैथुन कार्य की पूर्ति को तीव्र करने या वहाँ तक पहुँचाने के लिये की जाती हैं, वहाँ वे विकृत नहीं है। प्रकृत और वि

यौनवृत्तियाँ एक ही स्रोत अर्थात् शैशवीय यौन-प्रवृत्ति से पैदा होती है। (फ्रायड—मनोविश्लेषण, पृष्ठ २८६) । तात्पर्य यह है कि यौन-वृत्ति के विपरीत तथा परिवर्तित रूपों में स्वरति (आटोसेक्स), समरति (होमोसेक्स), आत्म-पीडन रति (मेसोचिज्म), पर-पीडन रति (सेडिज्म), अन्य रति (वोएरिज्म) तथा वस्तु-रति (फेटिशिज्म) आदि प्रमुख वृत्तियाँ शैशवीय यौन-प्रवृत्ति से ही उद्भूत हुई है।

**अचेतन मन**—सन् १९२० के पहले सिगमंड फ्रायड अचेतन मन को व्यक्तित्व के विकास मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण निर्णायक तत्व मानता था। किन्तु उसके पश्चात उसके नवीन चिन्तन के फलस्वरूप अचेतन मन का महत्व बहुत कम हो गया और वह मात्र मनस्तत्व का एक गुण-विशेष समझा जाने लगा जो वैयक्तिक आचरण और गतिविधियाँ अचेतन मन के अन्तर्गत अध्ययन के विषय थीं, उन्हे इद के क्षेत्र मे समेट लिया गया। चेतन और अचेतन के बीच वर्तमान भेदों को व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये भी इद, अहम् और परहम् का संगठन ही पर्याप्त सिद्ध हुआ।

मनस की किसी वस्तु के वरण के लिए मन-ऊर्जा का अत्यधिक अभाव हो और दूसरी ओर अवरण की प्रतिरोधक शक्ति तीव्र हो, तो वह वस्तु अचेतन की सामग्री बनकर पडी रहती है। लेकिन यह अचेतन मन की वस्तु अचेतन मानसिक क्रियाओं का कारण बनकर व्यक्तित्व को प्रभावित करती रहती है। यथा जिस व्यक्ति में खाने-पीने की असाधारण तृष्णा जाग उठती है, वह यह नही जानता कि यह असाधारण तृष्णा उसके कुंठित प्रेम का परिणाम है। ज्ञात हो जाने पर भी अचेतनावस्था मे पडे उस कुंठित प्रेम की प्रतिक्रिया, जो अचेतन मानसिक क्रिया के माध्यम से असाधारण तृष्णा में प्रतिफलित होती है, व्यक्ति के अनुभूति-क्षेत्र मे प्रत्यक्ष नहीं हो पाती।

गुण की दृष्टि से अचेतन के दो भेद है :—प्रथम पूर्व चेतन और द्वितीय वास्तविक अचेतन। पूर्व चेतन-विचार प्रतिरोधक शक्ति के क्षीण रहने के कारण सरलता से चेतन स्तर पर आ जाता है। अचेतन विचार या स्मृति को चेतन स्तर पर पहुँचने मे बडी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अचेतन को चेतन होने से अवरण की प्रतिरोधक शक्ति रोकती है। उसे चेतन बनाने के लिये मानसिक प्रक्रिया में अपेक्षाकृत अधिक ऊर्जा को केन्द्रित करना आवश्यक होगा।

जिस उत्तेजन को दबा दिया जाता है, वह चेतन होने मे असमर्थ हो जाता है। वह चेतन के द्वार आकर भी यदि चेतना की दृष्टि को आकर्षित करने में असफल रहता है तो वह पूर्व चेतन का ही अंग बना रहेगा। (फ्रायड : मनोविश्लेषण, पृष्ठ २६२)।

स्वप्न का निर्माण अचेतन एवं दमित इच्छाओं के उत्तेजनों से प्रभावित पूर्व चेतन की सामग्रियों के उद्दीपनों से होता है। दमित इच्छाएँ ही स्नायविक रोगों के कारण हैं। स्नायविक लक्षण अतृप्त इच्छाओं की स्थानापन्न परितुष्टियाँ हैं।

## प्रगतिवाद में फ्रायड के मनोविश्लेषण की स्वीकृति

फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ने व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व एव आचरणों को अभिव्यक्ति प्रदान करने में वैज्ञानिक दृष्टि की महत्ता स्थापित की। परंपरागत नैतिकता एवं रूढ़िग्रस्त यौन-धारणाओं के स्थान पर स्वस्थ और साहसपूर्ण नैतिक विचार प्रतिष्ठित हुए। फ्रायडीय सिद्धान्त से ही प्रभावित होकर कुप्रिन, गोर्की, बूनिन, जेम्स ज्वायस, क्लिफोर्ड, प्रूस्ट, हैमसन, फ्रांक, सेंडर, हेमिंग्वे आदि श्रेष्ठ कलाकारों ने महान मनोवैज्ञानिक कृतियों की रचना की। इसका अर्थ यह नहीं कि पहले की महान् साहित्यिक कृतियों में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का दर्शन होता ही नहीं था। प्रस्तुतः आज भी जिन रचनाओं की श्रेष्ठता अक्षुण्ण है, उसका मूल आधार रचनाकारों की वह मौलिक सूझ-बूझ है जो शास्त्रीय और सौंदर्य-भावना से प्रेरित रहते हुए भी अनजाने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुकूल रही है।

## मार्क्स और फ्रायड के विचार-बिन्दु

मार्क्स ने सम्पूर्ण सामाजिक व्यापार एवं विकास के मूल में अर्थ की महत्ता स्थापित की, तो फ्रायड ने व्यक्ति के अज्ञात एवं अप्राकृतिक व्यक्तित्व के पृष्ठाधार में यौन-वृत्ति की रहस्यमय क्रियाशीलता का दर्शन कराया। फ्रायड ने ही सर्वप्रथम मनुष्य जाति की मूल प्रवृत्ति काम (लिबिडो) का सविस्तार विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए यह रहस्योद्घाटन किया कि काम अपने प्रकृत रूप में सहवास या प्रजनन की इच्छा-तुष्टि के निमित्त मुक्त शारीरिक अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। अपने विकृत रूप में इद की तृप्ति के लिए अस्वाभाविक साधन प्रयोग में लाता है; अपने परिवर्तित उन्नत रूप में ईश्वर-भक्ति, कला और साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होता है; और दमित रूप में अचेतन की सामग्री बनकर रोग या अन्य असाधारण आचरणों का स्रोत प्रमाणित होता दिखाई देता है।

मार्क्सवाद ने धर्म और ईश्वर दोनों के प्रति गहरी अनास्था की सृष्टि की थी। फ्रायड ने भी अपने सैद्धान्तिक विश्लेषण द्वारा दोनों को मूल प्रवृत्ति-सापेक्ष प्रमाणित कर मार्क्सवाद की नास्तिकता को बल प्रदान किया। उसने धार्मिक विश्वास तथा ईश्वर की कल्पना के पीछे मनोग्रंथियों एवं मूल प्रवृत्तियों का हाथ बतलाया।

इस प्रकार फ्रायडीय सिद्धान्त आदर्शवादी दर्शन के खंडन में सहायक सिद्ध होता है। यह परम्परागत नैतिक मान्यताओं और धार्मिक अंध-विश्वासों पर आघात कर विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करता है। इन बिन्दुओं पर अमूल्य सहयोग स्वीकारने के बावजूद भी फ्रायडवाद से मार्क्सवाद मौलिक मतभेद रखता है। अतः इसकी चर्चा भी कर लेना अपेक्षित है।

(१) फ्रायडवाद कार्यकारणवाद से दूर जाकर पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हो गया है। उसके प्रथम पूर्वाग्रह के अनुसार चेतना सामाजिक सृष्टि नहीं है। उसका दूसरा पूर्वाग्रह यह है कि *व्यक्ति में मूल प्रवृत्तियाँ सहज और परम स्वतंत्र हैं।* वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार बाह्य परिवेश में परिवर्तन होने पर व्यक्ति का आन्तरिक संगठन यथा वासना, इच्छा, चेतनादि—भी बदलना चाहिए। आन्तरिक संगठन पर समाज का अथवा बाह्य वातावरण का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है और इसके फलस्वरूप उसमें परिवर्तन उपस्थित होना भी अनिवार्य है। इसी प्रकार मूल प्रवृत्तियों में भी सामाजिक परिवर्तन की प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। प्रागैतिहासिक काल में स्त्री-पुरुष मुक्त विहार करते थे। उनके उस मुक्त मिलन को आज हम वासनात्मक संबंध के नाम से पुकारते हैं और वैसा मुक्त विहार विलासिता के नाम से अभिहित होगा। यह समयानुसार बदलते हुये आर्थिक संबंधों का प्रतिफल है।[1] आर्थिक कारणों से वर्तमान में काम-वृत्ति का रूप प्राचीन से बहुत भिन्न हो गया है और साथ ही प्रेम के ढंग भी बदल गये हैं।

(२) फ्रायड जीवन का सब कुछ काम-वासना को ही मानता है जो वस्तुतः अयथार्थता का द्योतक है। यथार्थ तो यह है कि काम-वृत्ति जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग ही है, उसका सर्वस्व नहीं। जीवन में प्रमुख भूमिका समाज तथा आर्थिक संबंधों की भी है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? यह सत्य है कि प्रारम्भ में व्यक्ति के जीवन में काम-वृत्ति ही प्रधान हो उठती है और पुरुष-नारी के मन में सामाजिक बंधनों के प्रति विद्रोह पलता है। लेकिन उनके पारस्परिक यौन-संबंध के परिणामस्वरूप जब एक नया व्यक्ति जन्म लेता है तो वही समाज उन पर हावी हो जाता है।

(३) फ्रायडवाद चेतन मन को महत्व न देकर अचेतन मन को ही कला का

---

1. "Sexuality is, therefore, a bind of luxury appearing at a late date, as a special modification of special economic relation."
(STUDIES IN A DYING CULTURE)—काडवेल।

केन्द्र बना देता है। इसकी दृष्टि में अचेतन मन का चेतना की दुनिया से कोई संबंध नहीं है। इस अचेतन की समस्याएँ, आर्थिक संबंधों के कारण उत्पन्न नहीं होतीं; ये तो हमारे इद की अतृप्ति के परिणाम हैं। हमारी चेतना और अहम् का अचेतन द्वारा ही दिशा-निर्देशन होता है। अतः कला अचेतन की ही अभिव्यक्ति है।

मार्क्सवाद चेतना के महत्व को कभी कम करके नहीं देखना चाहेगा। वस्तुतः हमारा जीवन प्रायः चेतन मस्तिष्क द्वारा ही परिचालित होता है। हमारी कला सामाजिक परिवेश, आर्थिक संबंध, बाह्य वातावरण तथा आन्तरिक संगठन इन सभी का प्रभाव ग्रहण कर प्रकट होती है। केवल अचेतन को ही इसका मूल उत्स मान लेना भ्रामक होगा। कला अथवा साहित्य मात्र व्यक्ति का दिवास्वप्न नहीं, अपितु वह राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से भी संबंधित है। मनोग्रंथियों को बढ़ाकर उनसे मुक्त होने का मार्ग ढूँढना और इस प्रकार वैयक्तिक अहम् को अनावश्यक महत्व देना—दोनों बराबर हैं।

(४) फ्रायड की मान्यता है कि कोई भी सामाजिक आन्दोलन मनुष्य के भय तथा असुरक्षा के भाव को ही व्यक्त करता है। मनुष्य की इन मानसिक वृत्तियों के अतिरिक्त कोई दूसरी बात सामाजिक आन्दोलन के पीछे काम नहीं करती—कैसा अनोखा सिद्धान्त है? फ्रायड यह भी कहता है कि समाजवाद भी धर्म के समान वर्तमान के कष्टों से मुक्त करने का और नयी समुन्नत जीवन-व्यवस्था का विश्वास दिलाता है। अतः समाजवाद भी धर्म से कुछ अधिक नहीं रखता। स्पष्ट है कि इस बिन्दु पर फ्रायडवाद से मार्क्सवाद का स्वभावतः विरोध होगा। मार्क्स की दृष्टि में जहाँ धर्म सामाजिक चेतना को ज्वलन्त समस्याओं से दूर रखने के लिये सुरा है, वहाँ समाजवाद समाज से विषम आर्थिक स्थितियों को मिटाकर समता स्थापित करने का क्रान्तिकारी विचार है। धर्म का संबंध व्यक्ति से अधिक है, किन्तु समाजवाद आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल वह राजनैतिक आदर्श प्रस्तुत करता है, जिसका अनुकरण कर समाज आर्थिक विषमता की उलझनों से मुक्त हो सकता है।

(५) फ्रायडवाद मनुष्य के व्यक्तित्व को यौन-वर्जनाओं के पुंज के रूप में ही देखता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि व्यक्ति मात्र यौन-वर्जनाओं से उत्पन्न मनोग्रन्थि और अचेतन की रहस्यपूर्ण लीला की ही अभिव्यक्ति नहीं है, अपितु वह समाज से भी प्रभाव ग्रहण करता है। यदि फ्रायडवाद को आदर्श मानकर व्यक्ति को अपनी कामवृत्ति की तुष्टि के लिये उन्मुक्त छोड़ दिया जाए, तो सभ्यता और संस्कृति का महल पल भर में ध्वस्त हो जाएगा और पुनः हम बर्बर-युग में पहुँच जाएंगे।

प्रकार फ्रायडवाद को स्वीकारना पशुता की विजय को स्वीकारना है और साथ ही यह स्पष्ट हो जाता है कि फ्रायडवाद पलायनवाद से अविच्छिन्न व्यक्तिवादी सिद्धान्त है।

(६) फ्रायड व्यक्ति के आन्तरिक संगठन—मन, चेतना, अवचेतना की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार कर आदर्शवाद का विरोधी रहते हुए भी आदर्शवादी दृष्टिकोण की पुष्टि कर देता है। किन्तु मार्क्सवाद मन, चेतना अथवा अवचेतना का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं स्वीकारता, बल्कि उसे भूत का गर्भजात, विरोधि-समागम का प्रतिफल और चिर परिवर्तनशील मानता है। उसके अनुसार मन, चेतना, अवचेतना आदि की सत्ता सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। इसके विपरीत फ्रायडवाद निरपेक्षतावाद का पोषक है।

(७) फ्रायड का मनोविश्लेषण इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मूल प्रवृत्तियों से मानव-स्वभाव निर्धारित होता है और इसीलिये बर्बरता, शोषण, उत्पीड़न आदि स्वभाव के अनिवार्य अंग है। शोषण करना, शोषित होना, अत्याचार करना और सहना जन-साधारण का स्वभाव है। इसे भीड़-मनोविज्ञान की संज्ञा दी गई है। मार्क्सवाद की दृष्टि मे यह जन-साधारण को मूर्ख बनाने वाला सिद्धान्त है।

(८) फ्रायड ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या मे आर्थिक अथवा सामाजिक कारणों को स्थान नहीं देता। वह उन्हें असामान्य नायकों के प्रयासों का परिणाम बतलाता है। इसके अनुसार आन्दोलनों में भाग लेने वाले हजारों असामान्य श्रमिक अपनी अतृप्त कामवृत्ति के कारण कष्टसहिष्णु तथा झगड़ालू स्वभाव के रहते हैं। मार्क्सवाद उसके विपरीत श्रमिक वर्ग को सर्वाधिक जागरूक एवं विचारशील मानता है।

(९) फ्रायड व्यक्ति के इद की तुष्टि में समाज को बाधक मानता है। सामाजिक संस्थाओं के टूटने पर ही इच्छा की पूर्ति संभव है। फ्रायड की दृष्टि में व्यक्ति की इच्छा-पूर्ति ही सबसे बड़ी समस्या है। मार्क्सवाद के अनुसार फ्रायड ने चूंकि समाज और व्यक्ति के बीच परस्पर संबंध के अध्ययन की उपेक्षा कर दी, फलतः वह पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा। अस्तु, व्यक्तिवादी विचार रखने के कारण फ्रायडवाद को पूँजीवादी सिद्धान्त ही कहा जायेगा।

(१०) मार्क्स ने दलित-दमित वर्ग की समस्याओं का अध्ययन किया और फ्रायड ने दमित कामवृत्तियों के रहस्यमय लोक का दिग्दर्शन कराया। किन्तु मार्क्स जहाँ भविष्य मे पूँजीवादी शोषण और प्रवचना के घने आवरण को चीर कर प्रकट होने वाले सुखद साम्योदय के प्रति आस्थावान है, वहाँ फ्रायड सभ्यता के उत्तरोत्तर

विकास को अवचेतन की जटिल प्रक्रिया के विस्तार के साथ विक्षिप्तता की अभिवृद्धि का मूल कारण प्रमाणित करता है जो स्वयं में एक घोर निराशापूर्ण निष्कर्ष है।

(११) फ्रायड का मनोविज्ञान व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व पर आधारित है। कला और संस्कृति के सम्बन्ध में फ्रायड का मत है कि कला और संस्कृति तभी तक विकसित होती रहती है जब तक अचेतन मन की असामाजिक दमित काम-कुण्ठाओं के उदात्तीकरण में व्यक्ति समर्थ रहता है। तात्पर्य यह है कि असामाजिकता के उदात्तीकरण की अभिव्यक्ति ही कला और संस्कृति है।

मार्क्सवाद कला को वह शक्तिशाली साधन मानता है, जो लाखों-लाख जन-मानस को आलोकित कर सके। यह कला को जगत् और जीवन की जटिल समस्याओं के समाधान में सक्रिय देखना चाहता है। इसके अनुसार संस्कृति का निर्माण समाज की युगानुकूल प्रगतिशील उदात्त भावना और श्रेष्ठतम बौद्धिक स्तर पर निर्भर है।

## एडलर और जुंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

एडलर लिबिडो अर्थात् कामवृत्ति को उतना महत्व नहीं देता। उसकी दृष्टि में व्यक्ति की स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति अहम् की स्थापना है। अतः स्नायविक रोगों का मूल कारण मात्र दमित कामवृत्ति नहीं, अपितु अहम् की असन्तुष्टि भी हो सकती है। यथार्थ जगत् में अहं-स्थापन की इच्छा को संघर्ष करना पड़ता है और इसके परिणामस्वरूप जीवन में समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। अहम् की अतृप्ति से हीनता की भावना उत्पन्न होती है और यही हीनत्व, कुण्ठा, मानसिक तथा स्नायविक रोगों की सृष्टि करती है।

जुंग ने फ्रायड की कामवृत्ति एवं एडलर की अहंस्थापन-वृत्ति—दोनों की प्रमुख विशेषताओं को लिबिडो में ही अन्तर्मुक्त कर अपना मत प्रतिपादन किया। इसके अनुसार लिबिडो वह जीवन-शक्ति है जो व्यक्ति के विकास, क्रियाशीलन और प्रजनन कार्य—इन तीनों में अभिव्यक्ति पाती है। यह जीवन-शक्ति निरन्तर साम्यावस्था की ओर उन्मुख रहती है। जुंग भविष्य पर भी ध्यान रखता है। फ्रायड की भाँति वह केवल अतीत की दृष्टि से वर्तमान की व्याख्या नहीं करता।

जुंग ने व्यक्ति के ध्यान और जीवन-शक्ति की प्रवृत्ति के अनुसार व्यक्तित्व के प्रकारों का सिद्धांत प्रतिपादित किया। इसके अनुसार ध्यान और जीवन-शक्ति के आत्म-केन्द्रित रहने पर अन्तर्मुखी व्यक्तित्व का निर्माण होता है; इसके विपरीत

यदि भौतिक और सामाजिक परिवेश की ओर आकर्षण रहा तो व्यक्ति में बहिर्मुखी व्यक्तित्व उभर आता है।

एडलर और जुंग के उपर्युक्त सिद्धांत भी आदर्शवादी ही कहे जायेंगे; क्योंकि इन्होंने भी काम, अहम्, अवचेतन आदि की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार की है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि फ्रायड के सिद्धांत ने ही कला और साहित्य को विशेषत. प्रभावित किया है। एडलर और जुंग का प्रभाव बहुत कम पड़ा। तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि फ्रायड के इन शिष्यों के सिद्धांत भी व्यक्ति के मानस-जगत् की समस्याओं को सुलझाने मे बहुत सहायक सिद्ध हुए।

## प्रगतिवाद और विकास का सिद्धान्त

फ्रायड और डार्विन के सिद्धांतों ने प्राचीन धारणा और धार्मिक विश्वासों को आमूल झकझोर कर रख दिया। इनके सिद्धांत ऐहिकता के महत्व-स्थापन में परस्पर सहयोगी सिद्ध हुए। अतः मार्क्सवाद और फ्रायड के सिद्धांत पर विचार कर लेने के पश्चात् यहाँ विकासवाद पर भी कुछ चर्चा कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

विकासवाद प्रधानतः प्राणियों की उत्पत्ति और उनके विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। पहले के विचारक और ईश्वरवादी यह आस्था रखते थे कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही प्राणियों की विभिन्न जातियाँ हैं; मनुष्य प्रारम्भ से ही मनुष्य रहा है; चींटी प्रारम्भ से ही चींटी रही है। लेकिन डार्विन के विकासवाद ने इस धारणा को पूर्णतः गलत प्रमाणित कर दिया और उसने यह मत स्थापित किया कि सृष्टि के प्रारम्भ में कुछेक ही अविकसित जीव थे, जिनसे कालान्तर में असंख्य योनियों का विकास हुआ। हम देखते हैं कि एक मूल वृक्ष-जाति से विभिन्न रूपों के वृक्ष विकसित हो जाते हैं। शिलाओं की तहों से प्राप्त प्राचीन अस्थि-अवशेष इसकी पुष्टि करते हैं कि प्राणियों के ढाँचे क्रमशः बदलते हैं और आगे चलकर नवीन जीव-योनि का रूप धारण कर लेते हैं। ऊँट पहले भेड़ के आकार का था। आज वह बहुत ऊँचे-लम्बे ढाँचे के जीव-रूप में विकसित हो गया। क्रमिक विकास की पुष्टि डिम्ब-शास्त्र से भी होती है। जीव-योनियों के क्रमिक विकास एवं परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालते हुए डार्विन ने लिखा है कि जीवन-काल मे प्राणियो का शारीरिक गठन बदलता रहता है और यह परिवर्तन भावी सन्तानों में संक्रमित हो जाता है। परिणामस्वरूप नवीन योनि की उत्पत्ति की सम्भावना बढ जाती है।

प्राणियों को जीवित रहने के लिये प्रतिकूल परिस्थितियों से निरन्तर संघर्ष

करना पड़ता है। संघर्ष के परिणामस्वरूप पराजित जातियों का विनाश हो जाता है और बलवान तथा योग्यतम प्राणी बचे रहते हैं।

नवीन परिस्थितियों में जीव-योनियों के नये सदस्यों मे लाभ-प्रद परिवर्तन होने पर पुराने सदस्यों से भिन्नता स्पष्ट हो जाती है जो नई जाति के जन्म का परिचायक है।

डार्विन के 'जीवन संघर्ष' और 'योग्यतम प्राणियों की विजय' वाले सिद्धांत असंख्य प्राणियों के जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने मे सफल हुए। इस विकासवाद से ईश्वर का अस्तित्व खतरे में पड़ गया और भौतिकवाद तथा नास्तिक प्रवृत्तियों को अतिशय बल प्राप्त हुआ।

किन्तु डार्विन का विकासवाद यह बताने में असमर्थ है कि जीवन का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ। यह केवल इतना दिखलाता है कि विभिन्न प्राणियों का विकास कैसे हुआ। परिवर्तन क्यों होते हैं—इसकी भी व्याख्या करने में यह अक्षम है। अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि डार्विन का विकासवाद भौतिकवाद का प्रत्यक्ष समर्थक है। किन्तु इतना निश्चित है कि ईश्वरवाद को पर्याप्त रूप में आघात पहुँचा।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रगतिवाद की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि का निर्माण मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, फ्रायड के मनोविश्लेपण और डार्विन के विकासवाद से हुआ है। लेकिन इसमें सन्देह नही कि प्रगतिवादी दर्शन की रीढ़ की हड्डी मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही है। फ्रायड एवं डार्विन के सिद्धांत उसके सहयोगी समर्थक बनकर ही प्रस्तुत हुए हैं। इन दार्शनिक सिद्धांतों के अतिरिक्त समसामयिक परिस्थितियों और अन्य दर्शनों के विधेयात्मक एवं निषेधात्मक प्रभावों के योग से बीसवी सदी के तीसरे-चौथे दशक में क्रांतिकारी चेतना से सम्पन्न युवा मानसिकता का उदय हुआ, जिसकी साहित्यिक गतिविधि प्रगतिवादी कहकर पुकारी गई। संक्षेप में हम कह सकते है कि प्रगतिवाद साम्राज्यवादी शोषण और दमन की तमाम प्रतिक्रियावादी शक्तियों तथा साथ ही उनके पोषक सिद्धांतो के विरोध में साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रति अटूट आस्था लेकर प्रकट हुआ था।

## तृतीय प्रकरण

# पूर्व प्रगतिवादी युग का प्रगतिवादी काव्य

छायावाद ने इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर लाक्षणिकता, उत्प्रेक्षा, प्रतीक और अप्रस्तुत योजनादि से पूर्ण नवीन अभिव्यंजना-शैली की प्रतिष्ठा कर हिन्दी को असाधारण सौंदर्य-दीप्ति प्रदान की। उसने आत्मनिष्ठ विद्रोह का प्रश्रय लिया था और प्राचीन संस्कृति के उदात्त मूल्यो की पुनर्स्थापना मे राष्ट्र-कल्याण का स्वप्न देखा था। वह स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह था। आत्माभिव्यक्ति उसका मूल स्वर थी। वह अतीन्द्रिय प्रेम और अशरीरी सौंदर्य का उपासक था। अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता में उसकी व्यक्त चेतना आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख थी। समाज और राजनीति की उपेक्षा कर प्रकृति मे आत्मदर्शन करना उसे अधिक प्रिय था। संक्षेप मे छायावाद की ये ही विशेषताएँ हैं।

किन्तु छायावाद ने जहाँ हिन्दी को काव्य-गरिमा से समृद्ध करने की गौरवपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया वहीं उसमे दुर्बलताएँ भी दिखलाई पड़ी, उसमें बहुत सारे अभाव खटकने लगे। परिणामस्वरूप धरती और युग-जीवन की स्वीकृति बनकर प्रगतिवाद प्रादुर्भूत हुआ।

वर्ग-भावना प्रगतिवाद का मूल स्वर है। इसे आध्यात्मिकता अथवा अतीन्द्रिय प्रेम स्वीकार नही, प्रत्युत यह शरीरी सौंदर्य और मांसल प्रेम के गीत गाता है। सामयिक युग-चेतना का प्रभाव ईमानदारी से स्वीकार कर यह सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यह सर्वहारा वर्ग का पक्षपाती और शोषितो की आर्थिक समस्या के प्रति विशेष रूप से जागरूक है। इसकी नैराश्यपूर्ण अभिव्यक्ति मे भी आशा की विजय मुखरती है तथा जीवन और जगत् की प्रगति मे इसकी आस्था अटूट है। छायावाद की संस्कृतनिष्ठ एवं सूक्ष्म अभिव्यंजना शैली के विपरीत यह जन-साधारण मे प्रचलित शब्दो के प्रयोग पर विशेष बल देता है। इसके हृदय मे ईश्वर तथा धार्मिक अन्धविश्वासो के प्रति सख्त नफरत है; बल्कि यो कहिये कि इसका दृष्टिकोण नास्तिक है।

हमने ऊपर देखा है कि छायावादी कवि आध्यात्मिक थे और अद्वैतवाद मे उनकी पूर्ण आस्था थी। तो भी उनमे से अधिकाश ने समसामयिक युग-चेतना मे

प्रभावित होकर सर्वहारा के कल्याण की बात को और राजनैतिक अथवा आर्थिक समस्या के निदान के लिये समाजवादी फार्मूलों को ही उपयुक्त समझा। अतः यह कभी भी बुद्धिमानी नहीं समझी जा सकती कि हम प्रगतिवाद के नाम पर केवल विशुद्ध मार्क्सवादी कवियों की कविताओं को ही अध्ययन का विषय बनायें। ऐसी स्थिति में जब हम उन कवियों की रचनाओं में प्रगतिवादी तत्व ढूंढ़ने लगेंगे तो प्रधानतः प्रगतिवाद की निम्नलिखित तीन-चार विशेषताओं पर ही ध्यान रखेंगे—

(१) वर्ग-भावना;
(२) शोषितों के प्रति सहानुभूति;
(३) समाज में साम्य-स्थापना का समर्थन; और
(४) क्रांति का आह्वान।

अस्तु, आगे अब सन् १९३६ के पूर्व की रचनाओं मे प्रगतिवाद की पगध्वनि का पता लगाना हमारा अभीष्ट है।

छायावाद-युग के अतिरिक्त उसके और पीछे इतिवृत्तात्मक रचना-काल से ही हिन्दी काव्य-धारा मे उस प्रगति-तत्व के दर्शन कर लेना अप्रासंगिक न होगा जो बिना किसी विदेशी वाद के प्रभाव के सहज एवं प्रकृत अनुभूतियो से अनुस्यूत हुआ था।

इतिवृत्तात्मक शैली के प्रसिद्ध कवि यथा गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह, सियाराम शरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि अपने-अपने ढंग से राष्ट्रीय चेतना और समकालीन राजनैतिक गतिविधि को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए स्वतन्त्रता-संग्राम को बल प्रदान कर रहे थे और साथ ही दीनो—अनाथो के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के हेतु उनकी दारुण स्थिति के चित्र भी आंकते जा रहे थे। कभी-कभार उनकी कविताओं मे वर्ग-चेतना एवं शोषको के प्रति रोष को भी अभिव्यक्ति मिल जाती थी। सनेही जी की इन पंक्तियो को देखिये—

"पतियों को ले गये लोग वेगार पकड़ कर।
जो कुछ बोले, ठीक कर दिया थप्पड़ जड़कर॥
बहुत गये चुपचाप, खाय क्या मार अकड़ कर।
हुआ छूटना कठिन, कठिन पंजे में पड़कर॥"

शोषको के पंजे मे पड़े हुए गरीबो की असमर्थता का, उनकी बेबसी का कितना यथार्थ और करुण चित्र है! यह कविता सन् १९१९ में लिखी गई थी।

सन् '१६ में ही मैथिलीशरण गुप्त जी ने 'किसान' की रचना की थी। उसमें उन्होंने किसान के दैन्य-दुःख का चित्रण करते हुए लिखा है—

"जिस खेती से मनुज मात्र अब भी जीते हैं,
उसके कर्त्ता हमीं यहाँ आँसू पीते हैं!
भरकर सबके उदर आप रहते रीते हैं,
मरते हैं निरुपाय हाय! शुभ दिन बीते हैं॥"

किसान की इस करुण कहानी में कवि की सच्ची अनुभूति मुखर हो उठी है। गरीब किसानों को चूसने वाले जोंक कौन-कौन हैं, कवि उनका पता जानता है—

"साहु, महाजन, जमींदार, तीनों ठने।
वात, पित्त, कफ, सन्निपात जैसे बने॥
पन्द्रह दूनी तीस साहु ने भी किये।
मौके पर ये दिये पुलिस-प्रभु के लिये॥"

यहाँ सेठ-साहूकार, महाजन, जमींदार और पुलिस की शोषण-वृत्ति पर व्यंग्य है। कवि ने 'किसान' खण्डकाव्य में जिस मार्मिकता से शोषण-उत्पीड़न का वर्णन किया है, उसे पढ़कर आँखें छलक पड़ती हैं किन्तु क्रांति की आग को वह सायास दबा देता है। इसके विपरीत श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने शुरू से ही इनकलाब को जगाने की चेष्टा की है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं के संकलन 'माता' में इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं। सन् १९०७ में कई करोड़ दुखियों के दर्द से विह्वल भावी विद्वानों के क्रांतिकारी पदार्पण की सूचना देते हुए कवि ने लिखा था—

सूरज सावधान हो जाओ
मातृभूमि! तुम धर लो धीर,
पश्चिम! तू भी शीघ्र संभल ले
नीति बदल बन जा गम्भीर,
कर्मक्षेत्र में आते हैं अब
करने को जननी का त्राण;
कई करोड़ दुखों से व्याकुल
भारत के भावी विद्वान।

सन् १९१२ की 'देश में ऐसे बालक हों' शीर्षक कविता में चतुर्वेदी जी श्रेष्ठतम के नाश और समाज में समानता की कामना करते हुए लिखते हैं :—

"श्रेष्ठतम का होवे नाश
दमकता हो समानता तत्व,
देश के अग न मारे जायँ
प्राप्त हो पूरा-पूरा स्वत्व"

सन् १६१८ में लिखी गई 'चरण की ठोकर' शीर्षक कविता में कवि ने फिरंगी शोषकों और अपनी दशा के बीच वैषम्य को बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्ति प्रदान की है :—

तुम्हें दिवाली और दिवाला मेरे बाँटे
तुम्हे शालियाँ और मुझे मिलते हैं काँटे
नंदन तेरे हाथ, नहीं है मरु भी मेरा
बंगले तुझे नसीब, जेल में मेरा डेरा
इतने पर भी कैद में
जा मैं इतराने लगूं,
क्यों न भला श्रीचरण की
मृदु ठोकर खाने लगूं !

"उच्चत्व से पतन स्वीकार था" शीर्षक कविता सन् १६२७ में लिखी गई जिसमें कवि अपने को दलितों की व्यथा और विद्रोह का अवतार कहता है :—

तुम विमल ऊँचों की कथा,
मैं करुण दलितों की व्यथा,
तुम कर्महीना 'देवता',
मैं गतिमयी बलि की प्रथा,
जड उच्चता में, जन्म मम
विद्रोह का अवतार था !
मुझको पतन स्वीकार था।

छायावादी महाकवि श्री जयशंकर प्रसाद का भी ध्यान अछूतों, पीड़ित किसान-मजदूरों और दीन-दुखियों की ओर गया था। सन् १६०६ से १६१७ के बीच की रचनाओं के संकलन 'कानन-कुसुम' में वे युवकों को दीन-दुखियों की पीड़ा में हाथ बँटाते देखना चाहते हैं :—

जो अछूत का जगन्नाथ हो,
कृषक करों का दृढ हल हो,

दुखिया की आँखों का आँसू,
और मजूरों का कल हो।

श्री रामनरेश त्रिपाठी ने भी अपने खंड-काव्य 'मिलन' में आस्ट्रिया निवासियों द्वारा पराधीन इटली नगरवासियों पर किये गये अत्याचार और दमन के लिए अँगरेजी कर्मचारियों की शोपण-वृत्तियों का चित्रण किया है :—

दिये गये कितने प्रमाण पर सिद्ध न हुआ उपाय।
कर्मचारियों ने करवाया मनमाना अन्याय॥

मिलन का प्रकाशन सन् १६१८ में हुआ था। सन् '२० में प्रकाशित उनका दूसरा खंडकाव्य 'पथिक' है। उसमें भी सम्पूर्ण देश की दयनीय स्थिति का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं :—

धधक रही सब ओर भूख की ज्वाला है घर-घर में।
मास नही है, निरी सास है शेष अस्थिपंजर में॥
अन्न नही है; वस्त्र नही है, रहने का न ठिकाना।
कोई नही किसी का साथी अपना और बिगाना॥

सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताओं मे राष्ट्रीयता ही अधिक मुखर है, वर्ग-चेतना बिलकुल नही। किन्तु उनकी 'झाँसी की रानी' शीर्षक कविता ने जनता को शोपण और अन्याय के विरुद्ध अकेले जितना जगाने का काम किया, उतना हिन्दी के अन्य कवि की एक कविता के द्वारा न किया जा सका। यह कविता सन् १६३० में प्रकाशित हुई थी। उनकी 'विजयादशमी' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी देखिये—

सबल पुरुष यदि भीरु बनें
तो हमको दे वरदान सखी!
अबलाएँ उठ पड़े देश मे
करे युद्ध घमसान सखी!!

यहाँ क्रान्ति का आह्वान भास्वर हो उठा है। कवियत्री नर में शिव केशव हो जाने पर नारी मे अधिष्ठित महाशक्ति का ही आह्वान कर रही है।

दीन-दुखियों के पक्षपाती, क्रांति के समर्थक इतिवृत्तात्मक शैली मे लिखने वाले जिन कवियों की अभी चर्चा हुई है; उनमे किसी पर सन् १६३० से पहले समाजवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है। उनके ऐसे उद्गार सहज और स्वानुभूतिपूर्ण है।

सन् '२० से '३० की अवधि मे ये लोग भी छायावाद से प्रभावित रहे, किन्तु

सामयिक राजनैतिक गतिविधियों से वे कभी नहीं कटे, यह इन कवियों की प्रमुख विशेषता है। इनके द्वारा राष्ट्रीयता और जन-जीवन के हास-रुदन को समेटकर चलने वाली जो काव्य-धारा प्रवाहित की गई, वही कालान्तर में नवीन पर सरल अभिव्यंजना शैली और समाजवादी विचार के संगम के पश्चात् प्रगतिवाद की संज्ञा से अभिहित हुई। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन राष्ट्रीयता की ही उपज रहा है। समयान्तर में उसे एक विशेष विचार-धारा से संलग्न किया गया; परन्तु यह संलग्नता भी बहुत दिनों तक नहीं रही और शीघ्र ही कवियों का स्वातंत्र्य काव्य में प्रदर्शित होने लगा।" वाजपेयी जी के उपर्युक्त कथन से यह भी प्रकट होता है कि प्रगतिवाद पूर्णतः मात्र समाजवादी दर्शन से ही नहीं निर्देशित हुआ है।

सोवियत भूमि पर समाजवाद की सफलता ने भारतीय राजनीति को प्रभावित किया और अध्यात्मवादी कवि भी राजनैतिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता के लिए समाजवादी मार्ग को उपयुक्त समझने लगे। तो भी इनकी अटूट आस्था गांधीवाद में थी; परिणामस्वरूप उनकी क्रान्ति की बात अहिंसा से आगे नहीं बढ़ पाती थी। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने सन् १९३१ में अपने महाकाव्य 'साकेत' में शत्रुघ्न के माध्यम से राजद्रोह और समानता की बात की थी—

राज्य में दायित्व का ही भार,
सब प्रजा का वह व्यवस्थागार।
वह प्रलोभन हो किसी के हेतु,
तो उचित है क्रान्ति का ही केतु,
दूर हो ममता, विषमता, मोह,
आज मेरा धर्म राजद्रोह।
× × ×
राजपद ही क्यों न अब हट जाय?
लोभ-मद का मूल ही कट जाय?
कर सके कोई न दर्प न दम्भ,
सब जगत में हो नया आरम्भ।
विगत हों नर-पति, रहें नर मात्र,
और जो जिस कार्य के हो पात्र—
वे रहें उस पर समान नियुक्त,
सब जियें ज्यों एक ही कुल भक्त।

किन्तु शत्रुघ्न का यह राजद्रोह और क्रान्ति कथन तक ही सीमित है। तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि इन पंक्तियों में समाजवाद का प्रभाव अभिव्यक्त हुआ है और यह भी सही है कि न श्री मैथिलीशरण गुप्त प्रगतिवादी कहे जा सकते हैं और न अन्य पूर्व-चर्चित इतिवृत्तात्मक शैली के कवि ही। क्योंकि जीवन-दर्शन की दृष्टि से वे बहुत दूर पड़ते हैं। ये सभी पूर्णतः गाँधीवादी और प्राचीन भारतीय संस्कृति के पोषक बने रहे।

अब इतिवृत्तात्मक शैली के कलाकारों की चर्चा के पश्चात् सन् १९३६ के पूर्व छायावादियों में प्रगतिवादी प्रवृत्ति के उन्मेष का पता लगाना अपेक्षित है।

छायावाद राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं के प्रति उदासीन रहते हुए भी मानवतावाद और विश्वबन्धुत्व की भावना से उद्बुद्ध आध्यात्मिक उन्नयन का स्वप्न-द्रष्टा था, इसीलिए वह पश्चिमी स्वच्छन्दतावाद से अपना भिन्न स्थान रखता है। इस दृष्टि-संस्कार का मूल उत्स तद्युगीन राष्ट्रीय चेतना है। अतः आत्मनिष्ठ रहते हुए भी वह बहिर्जगत् के प्रति संवेदनशील रहा है। मूर्धन्य कलाकार चार हैं—श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री सुमित्रानन्दन पंत और श्रीमती महादेवी वर्मा। इनके अतिरिक्त इसमें 'बच्चन', 'दिनकर', भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल', जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद, हरिकृष्ण 'प्रेमी', मोहनलाल महतो 'वियोगी', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', गोपाल सिंह 'नेपाली', जानकी वल्लभ शास्त्री, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, विद्यावती 'कोकिल', हंस कुमार तिवारी आदि भी परिगणित किये जाते हैं।[1]

सन् १९२९ में निराला जी का 'परिमल' प्रकाशित हुआ जिसमें 'भिक्षुक' और विधवा के करुण चित्र प्राप्त होते हैं। भिक्षुक को देखिए—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को
भूख मिटाने को—
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता।

शब्दों के सोने पर कलेजे के दो टूक करता हुआ भिखारी साकार हो उठा है।

१. हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष—शिवदान सिंह चौहान, पृष्ठ ११२।

अगली पंक्तियों मे दाता को भाग्य-विधाता कहकर उस पर व्यंग्य किया गया है—

दाता भाग्य विधाता से क्या पाते।
घूंट आंसुओं के पीकर रह जाते॥

बेबसी के मारे उन लाचार भिखारियो से विद्रोह की उम्मीद ही कैसे की जाए, वे तो आँसुओं के घूंट पीकर ही चुप रह जाने वाले है !

इस कविता की भाषा सरल और करुणा से गीली है। यह कविता अनुभूति की सचाई और भावानुकूल अभिव्यंजना शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है।

निराला जी मन्दिर की पूजा-सी, कालतांडव की स्मृति रेखा व्यथा की भूली हुई कथा-सी विधवा मर्म को तीव्रता से छूकर असीम करुणा उत्पन्न करती है।

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीपशिखा सी शान्त भाव में लीन
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन
दलित भारत की ही —विधवा है।

इस अवसादपूर्ण यथार्थ चित्रण में सामाजिक अन्याय के प्रति गहरा क्षोभ भी संगोपित है।

इसी प्रकार वह, दीन, बादल राग आदि ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें समाज की दुर्बलताओं के व्यंग्यपूर्ण चित्रण के साथ-साथ क्रान्ति का स्वर मुखर हुआ है। 'रास्ते के फूल से' शीर्षक कविता में हिन्दू समाज के तथाकथित उच्च वर्ग पर कितना तीखा व्यंग्य है—उसे इन पंक्तियों में देखिए :—

'ढंके हृदय में स्वार्थ, लगाए ऊपर चन्दन,
करते सभय नदीशनन्दिनी का अभिनन्दन।'

'बादल राग' मे शोषण-उत्पीडन के शिकार किसानों का उल्लेख करते हुए विप्लव के वीर बादल से जीवन की कामना की जाती है :—

'जीर्ण बाहु, है जीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर
चूस लिया है उसका सार
हाड़ मास ही है आधार
ऐ जीवन के पारावार।'

यहाँ विप्लव वीर के प्रति कवि की श्रद्धा में क्रान्तिकारी भावना का बीज सन्निहित है।

वस्तुतः महाकवि निराला ने ही सर्वप्रथम सामाजिक यथार्थ की व्यंग्यपूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति का सूत्रपात किया और इस क्षेत्र में अद्वितीय बने रहे।

सुमित्रानन्दन पंत के 'युगान्त' में सन् १९३४-३५ की लिखी हुई कुछेक कविताएँ हैं, जिनमें प्रगति की आहट मिलती है।

उन्होंने प्राचीन को प्रगति का बाधक समझकर उसके पूर्ण ध्वंस की कामना करते हुए सन् '३५ में लिखा :—

गा कोकिल, बरसा पावक कण!
नष्ट - भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस - भ्रंस जग के जड़ बंधन!
पावक पग धर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन!

कवि नूतनता के अग्नि-चरण की प्रतीक्षा में है, जिसके संस्पर्श से नवीन मानवता पल्लवित होगी।

दिन भर के कठोर परिश्रम से शिथिल प्राण श्रमिकों का कवि ने कैसा यथार्थ चित्र खींचा है, उसे इन पंक्तियों में देखिए :—

"बांसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट—
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी - वी - टी - टुट् - टुट्!

वे ढाल - ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रही मधुर सपने
श्रम जर्जर विधुर चराचर पर,
गा गीत स्नेह - वेदना सने!

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन! भारी पग!

पेट की भूख मिट नहीं पाती; जीवन पहाड़ बन गया है। श्रम से शिथिल

अंगों में निष्प्राणता भर गई है। अनागत की चिन्ता से पाँव और भारी हो गए हैं! तभी तो श्रमिकों का "भारी है जीवन भारी पग।"

जिस ताजमहल को देखकर विश्वकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर के कंठ से कवितार फूट पड़ी थी :—

एक बिन्दु नयनेर अश्रु जल
कालेर कपोल तले शुभ्र समुज्ज्वल से ताजमहल

वही ताजमहल कवि के हृदय में एक सर्वथा भिन्न प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है :—

हाय! मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन?
संग सौध में हो शृङ्गार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वासविहीन रहें जीवित जन?
मानव! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ छाया से रति!!
प्रेम-अर्चना यही करें हम मरण का वरण?
स्थापित कर कंकाल, भरें जीवन का प्रांगण?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का?

यहाँ कवि मानव की अस्तित्व-रक्षा को सर्वोपरि मानता है। महादेवी वर्मा की कृतियों में कहीं भी मिट्टी का स्पर्श नहीं है। इनके अतिरिक्त जिन्हें छायावादी कहा गया है—वस्तुतः ये लोग छायावादी ही हैं अथवा और कुछ इस पर प्रसंग उठने पर आगे विचार होगा—उनमें केवल भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' ही ऐसे हैं जिनकी कुछेक कविताओं में सन् '३६ के पहले प्रगति की आहट सुनाई पड़ी।

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की प्रथम कृति 'रेणुका' सन् १९३५ में प्रकाशित हुई थी। उसमें संगृहीत 'कस्मै देवाय' शीर्षक कविता सन् '३५ में ही लिखी गई थी। यह कविता क्रान्ति के लिए अकुलाती हुई मानवीय आत्मा की इच्छा-आकांक्षा का प्रतीक है। कवि क्रान्ति कुमारी का [illegible] में आह्वान करते हुए लिखता है :—

उठ वीरों की भाव-रंगिणी!
दलितों के दिल की चिनगारी!

युग मंदित यौवन की ज्वाला।
जाग-जाग री क्रान्ति कुमारी!

'हिमालय के प्रति' शीर्षक कविता में भी कवि अतीत का स्मरण कर वर्तमान के प्रति क्षोभ से विह्वल हो उठता है—

रे ज्वालाओं से दग्ध विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश।

और तब धार्मिक चिन्तन में डूबे हुए अहिंसक युधिष्ठिरों के स्थान पर वह, गांडीवधारी अर्जुन और बलशाली भीम की आवश्यकता-महसूस करते हुए वृद्ध हिमालय से याचना करता है—

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।

इसी प्रकार 'तांडव' में महाविध्वंस की कामना मुखर हुई है। दिनकर की 'वनफूलों की ओर' शीर्षक कविता में आर्थिक शोषण का जीवन्त चित्र मिलता है। कवि की कविता वनफूलों की ओर जाकर क्षण भर के लिये मन रमा लेना चाहती है; क्योंकि वह जानती है कि जीवन की गलियों में तो उसे बार-बार रोना ही पड़ेगा। भले रिमझिमाते आषाढ़ में कृषक-सुन्दरी के साथ वह क्यारी-मेड़ों पर कुछ अटपटे गीत गा ले, पावस पर्व मना ले; फिर तो धान कट जाने पर खलिहानों में उसे रोना ही है। बेचारे गरीब किसानों की तकदीर में यही लिखा है—

ऋण-शोधन के लिये दूध, घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे, अपने लिये नहीं कुछ छोड़ेंगे।
*  *  *
इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार,
तब मैं बरसूंगी बन बेबस के आँसू सुकुमार।

भगवतीचरण वर्मा का 'मधुकण' सन् १९३२ में प्रकाशित हुआ। उस पुस्तक में 'संसार' शीर्षक कविता गरीब और अमीर के बीच वर्तमान वैषम्य का अच्छा चित्र प्रस्तुत करती है—

है कहीं चूमता अधर हास
झूमता नयन में है उछाह

आँसू बनता है कहीं रुधिर
है कहीं सिसकती दबी आह
है कहीं तृप्ति है कहीं प्यास
है यहाँ आदि से अन्त चाह

चीत्कार व्यथा हो कहीं मार,
है कहीं उठ रहा रंग राग
सुख का बहता है कहीं मलय,
दुख की जलती है कहीं आग,
ये भग्न-हृदय युत नग्न नगर,
दुर्दैन्य खेलता यहाँ फाग।

किन्तु इस यथार्थ में क्रांति की सुलगती आग स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती है।

नरेन्द्र शर्मा के शूल-फूल की 'भिखारिन' शीर्षक कविता सितम्बर '३३ में लिखी गई। वहाँ भिखारिन पर सम्वेदना प्रकट करते हुए कवि उसका दैन्य जड़ित रूप चित्रित करता है।

दर-दर पर कर फैलाती
पग पग पर झिड़की खाती
आती है दीन भिखारिन।
क्या जाने चेतन-आत्मा॥
बस उदर-क्षुधा या ज्वाला
ईश्वर ने उसे दिये हैं,
सिखलाये ये ही जग ने
पग पग पर ठोकर खाती
आती है दीन भिखारिन॥

कवि के मन-प्राण राष्ट्र की दयनीय स्थिति को देखकर जब विद्रोह की भावना से विकल हो उठते है तब वह प्रलयंकर शिव की स्तुति करते हुए परिवर्तन की कामना करने लगता है—

रुद्र! झरें शोणित के निर्झर!
उत्पीड़न से हर उत्पीड़न।
जीवन मे भर दें नव जीवन
हो जग-जीवन मे परिवर्तन,

खूनी खप्पर से वह बहकर,
रुद्र ! झरें शोणित के निर्झर !

'शूल-फूल' के अतिरिक्त 'कर्णफूल' में भी सामाजिक यथार्थ के प्रति कवि के संवेदनशील दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। 'कंगाल' शीर्षक कविता सन् १९३३ में लिखी गई। उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

कृश कंगाल,
नसों में नीले जाल,
अस्थि-पंजर निष्प्राण,
शून्य श्वासों के भार,
यही हैं वे नादान
भटकते भूले बाल,
दीन कंकाल,
नग्न कंगाल !

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के काव्यों में सामाजिक यथार्थ के चित्र नहीं मिलते और न वे स्वयं ऐसा दावा ही करते हैं। लेकिन उनके प्रारम्भिक कतिपय गीत क्रांति की भावना के प्रेरक रहे हैं। सन् '३३ का लिखा हुआ उनका 'विप्लव गायन' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। कवि ने वाणी में रुद्र-हुँकार की कामना करते हुए प्रलय का आह्वान किया था—

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये,

*　　*　　*　　*

माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाये,
आँखों का पानी सूखे, हाँ, वह खून की घूँट हो जाये,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह अचल शिला विचलित हो जाये,
और दूसरी ओर, कँपा देनेवाला गर्जन उठ धाये,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराये,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये।

सन् '३४ में आजादी के दीवाने भारतीयों के पौरुष को ललकारते हुए उसने लिखा था—

सुन लो ओ नवीन दीवाने, सुन लो मेरी बात जरा;
अरे, रही है विजय जगत् में सदा काल की स्वयंवरा;
जिसके गट्टे में ताकत है, है उसकी ही वसुन्धरा;
देकर शीश, अशीष मिले हैं यही विश्व की परम्परा;
विजय और वसुधा ये दोनों बड़े बाप की बेटी हैं;
कापुरुषों की नहीं, सदा ये बलवानों की चेटी हैं।

सन् '३२ से '३६ तक की जगन्नाथ प्रसाद "मिलिंद' की लिखी हुई कविताओं का संग्रह 'जीवन-संगीत' सन् '४० में प्रकाशित हुआ था। उसमें कुछ कविताएँ रूप, प्रेम, जीवन, करुणा और अध्यात्म इन पाँच अध्यायों में बँटी हुई हैं। जीवन-सर्ग में संकलित 'शहीद की चिता पर' शीर्षक कविता में दलितों के कुंठित पौरुष और साहस के लिए जागरण का संदेश सशक्त वाणी में अभिव्यक्त हुआ है।

दलितों में छिपे हुए साहस ! ऐ पौरुष पीड़ित प्राणों में !
सुन लो ! कहती है चिता-भस्म, है मुक्ति छिपी बलिदानों में;
तुम धूमकेतु बन टूट पड़ो, यदि सह्य न हो बन्दी जीवन;
ज्वाला गिरि बनकर फूट पड़ो, फैलो दारुण दावानल बन !

अभी तक जिन कवियों की चर्चा हुई है, उनके अतिरिक्त आरसी प्रसाद सिंह, गोपाल सिंह नेपाली, ब्रजभाषा के रामेश्वर करुण आदि कवियों की रचनाओं में भी प्रगति तत्व के दर्शन होते हैं। आरसी प्रसाद सिंह की श्रेष्ठ कृति 'कलापी' सन् १९३८ में प्रकाशित हुई। उसमें संकलित १५ जनवरी १९३४ को लिखी गई 'रक्त पर्व' शीर्षक कविता बिहार के भूकम्प से प्रेरित साम्यवाद की उद्घोषणा है। कवि उस सर्वनाश के प्रहर में साम्यवाद का गान गाते हुए विध्वंस का स्वागत करता है :—

आज, सर्वनाश के
रण - तांडव - उत्सव में
भीषण, बीभत्स और
नरकानल - ज्वाला - ज्वलन्त
गाओ साम्यवाद - गान;
बोलो जय ! - जय !! जय !!

पत्थर की पूजा करने वाले पत्थर से बने पाखंडियों के धर्मालय का भी कवि ध्वंस देखना चाहता है :—

लाओ नवीन युग यौवनमय
जीवन के कोमल पद्म-पत्रों पर !!

असहनीय हुई नरक की यह उग्र-गन्ध,
उग्र ज्वाल, उग्र - बन्ध !
धूल में मिला दो सभी
देवस्थान, धर्मालय, तीर्थ - व्रत, जप - तप !!
पाप - पुंज, कलुष केन्द्र;
खलों का खमंडल वह ?
अहे महाट्टालिकारि,
रहने न दो एक भी माया - भवन जग में !
आग - हाँ लगा दो आज
वैभव - विलास के उत्तुंग रंग - महलों में !!

भूडोल स्वयं दीन-दुखियों के पौरुष को जगाने आया है :—

जागो अभागे !
जगाने आया है आज, तुम्हें भूमिकम्प !!!
रक्त मांस हीन, कंगाल दीन;
जग गया भाग्य देवता तुम्हारा।
इस डावाडोल स्थिति में
जग की
कहता भूडोल आज !
छेड़ो प्रमत्त वीर, पागल
नृत्य - युक्त छन्दों में
सर्वनाश गान, महा - गान;
बोलो - जय !
देखो हिली नीवें पूँजीवाद की;
निपतित - सी लुठित - शिर
अनपवाद !

दलितों के कोप-वात से पूँजीवाद निश्चय ही बुझ जाएगा, अब उन्हें उल्लसित होकर समवेत स्वर में साम्य-गान मुखरित करना है :—

ओ रे वीर, ओ रे धीर !
तुम्हारे पुंजीभूत रोष - वात से
लो, बुझा

प्रदीप पूंजीवाद का;
सचित हो समग्र जाति
पूर्वीय सीमा पर दिगन्त की
लक्ष - लक्ष प्राणों का एक ध्यान;
अब उठो, गाओ और
मृत्युकंठ से उल्लासमय
साम्य - गान;
बोलो, चिर उन्नत - शिर
क्रान्ति का प्रचंड - कम्बु - नाद - ध्वनित
मानव की वसुधा यह
सारा श्रम श्रमिकों का;
कृषकों के खेत हों
पूंजी मजदूरों की !
बन्धन से मुक्त हो मानव, चिर मानव !!

गोपाल सिंह नेपाली की 'उमंग' सन् १९३४ में लिखी गई। इस पुस्तक की सन् '३१ की रचित 'मोहन से' शीर्षक कविता में सरकार के अत्याचार और गरीबों की बेबसी का चित्र खींचते हुए कवि एक बार पुनः महाभारत के संचालक श्रीकृष्ण से क्रांति का संदेश लेकर अवतरित होने का आग्रह करता है :—

कितनी टूटें रोज लाठियाँ
निरपराध नंगे सिर पर
होती है दिन - रात चढ़ाई
भूखों के रोते घर घर
छीनो यह रोटी का टुकड़ा
अपना शासन का भाला
आओ मोहन शंख बजाओ
पहने वैजन्तिया माला
भारत, यह सन्तों का भारत
नाच उठे अब चुटकी पर
पल में क्या कर क्या कर दे फिर,
मोहन, तेरी चुटकी पर।

दरिद्र, दास और दुःखी भारत का चित्रण करते हुए कवि अन्यत्र लिखता है—

लटक रहा है सुख कितनों का आज खेत के गन्नों में,
भूखों में भगवान खड़े हैं दो-दो मुट्ठी अन्नों में।
कर जोड़े अपने घरवाले हमसे भिक्षा माँग रहे,
किन्तु देखते उनकी किस्मत हम पोथी के पन्नों में।।

यद्यपि हिन्दी प्रगतिवाद के अन्तर्गत ब्रजभाषा के कवि की चर्चा करना मैं उचित नहीं समझता तो भी इसे उपयुक्त तो मानता ही हूँ। अतः यह रामेश्वर 'करुण' की सन् '३४ में प्रकाशित "करुण सतसई' का उल्लेख करना अनुपयुक्त न समझा जायेगा। यह पुस्तक सात सौ दोहों का संकलन है। इसकी प्रशंसा पं० नेहरू और महावीर प्रसाद द्विवेदी—दोनों ने की थी। कवि का जीवन अभावग्रस्त और कष्टपूर्ण रहने से अभिव्यक्ति में अनुभूति के संस्पर्श से मार्मिकता आ गई है। वे साम्यवाद के समर्थक और सम्पत्ति पर सामाजिक नियन्त्रण के पक्षपाती थे—

जब लौं 'श्रम' अरु उपज को, होत न साम्य विभाग।
बुझै बुझाये किमि कहौं, यह अशांति की आग!
ह्वै न भयो ह्वै है नहीं, साम्यवाद सम आन।
जग की व्याधि अगाध को सीधो सही निदान।।
सौ बातन की बात इक, बादि करै को तूल।
है इक रोटी-प्रश्न ही, सब प्रश्नन को मूल।।[१]

कवि केवल साम्यवाद का गुणानुवाद ही नहीं करता, उसकी लेखनी गरीब और तबाह भारतीय किसानों की करुण तस्वीर भी खींच सकी है—

'करि श्रम तीसों दिन मरत, भरत न भूखो पेट!
कहो कहाँ तें लाइये पटवारी !, तव भेंट?
सुनियत कूकुर आपके दूध-जलेबी खाहिं,
हम सब कृषक-मजूर हा! कूकरहू सम नाहिं!
फटी-पुरानी गूदड़ी फूटे बासन तीन,
सो कुरकी करि लै चले, साहब कुरक अमीन!
देखि किसानन के दुखहिं करत न कोई कृत्य!
स्वान-सम्भारन-हेतु पै, राखहिं गोरे भृत्य!

१. अवन्तिका, जनवरी १९५४ ई०, पृ० २२०-२१।

ब्याज-बहो, खाता-कथा, किमि जानें हम हाय?
कब को बाकी काढ़ि धौं भैंस लई मुकताय!
खैंचि रह्यो अन्त लह्यो कृपक-दुशासन वीर!
खैंचि बाढ़ वाली ब्याज, ज्यौं पांचाली को चीर!
उतु पूँजीपति निर्दयी, इत ब्यौहार बदकार,
चूसत हीन-अधीन लखि, दीन कृपक श्रमकार'।

पूरी पुस्तक के सम्पूर्ण दोहे कृपक श्रमकार, विषमता, महाजन, आर्य-समाज, रूढ़ि राक्षसी, इस्लाम, द्विजाति-अनन्यता, वर्ण व्यवस्थापक, गौरांग, साधु, बेकार, करुण-क्रन्दन, अप्रिय सत्य—शीर्षकों में विभक्त हैं। यह पहली काव्य-पुस्तक है जिसमें साम्यवाद का इतना विशद प्रभाव अभिव्यक्त हुआ है।

इस तरह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से अपने जन्म के पूर्व ही प्रगतिवादी काव्य रचा जाने लगा था। स्वच्छन्दतावाद और छायावाद की विस्तृत काव्य-भूमि में दुःखित, पीड़ित जन-जीवन की आकांक्षा और उसकी राष्ट्रीय भावना का संवाहक बनकर प्रगतिवादी साहित्य अपनी काव्य-भूमि का निर्माण कर रहा था। वह वाद की परिधि में नहीं आया था, लेकिन जन-मानस की सबल चेतना के रूप में अपने अस्तित्व की सूचना दे रहा था। जिस तरह प्रातःकाल में सूर्य का गोला निकलने के पूर्व उसकी रश्मियाँ समग्र पूर्वी आकाश को आलोक-रंजित कर देती हैं उसी तरह प्रगतिवादी काव्य-चेतना हिन्दी-काव्य के पूर्वी क्षितिज को इंगित कर रही थी। इसी आलोकपूर्ण स्थिति के बीच १९३५-३६ में प्रगतिवाद का सूर्य निकल आया।

प्रगतिवादी काव्य-धारा की परम्परा और उसकी चेतना को समझने में यह विवेचन निश्चय ही महत्वपूर्ण है, ऐसा मेरा विश्वास है। क्योंकि बिना परम्परा के प्रगति सम्भव नहीं है और न बिना आधार के किसी वस्तु का निर्माण।

चतुर्थ प्रकरण

# प्रगतिवादी काव्य-साधना और कवि

विगत अध्याय में मैंने सन् '३६ के पूर्व लिखी गई प्रगतिवादी कविताओं का मूल्यांकन पृष्ठभूमि के रूप में किया है। उस मूल्यांकन का उद्देश्य यह दिखाना था कि प्रगतिवादी चेतना भ्रूण रूप में भारतीय जन-मानस में पहले से ही निर्मित हो रही थी; सामाजिक विकृतियों, शोषण, अकाल और आर्थिक कष्टों से पीड़ित व्यापक जनसमूह की युगों से बन्द आवाज धीरे-धीरे अकुलाहट के रूप में व्यक्त हो रही थी। वही भ्रूण धीरे-धीरे परिपूर्ण होकर और रूसी क्रांति की सबल प्रेरणा पाकर सन् '३६ में ऐतिहासिक रूप से सैद्धांतिक आग्रह या सहज चेतना के रूप में एक नवीन काव्य शिशु के रूप में अवतरित हो गया।

सन् '३६ के बाद उपलब्ध प्रगतिवादी साहित्य का विवेचन इस अध्याय का मुख्य विषय है।

विवेचन में मैंने रचनाओं को अथवा कवियों को ऐतिहासिक कालक्रम से नहीं रखकर प्रवृत्ति की दृष्टि से रखा है। इस आधार पर मैंने प्रगतिशील और प्रगतिवादी दो वर्गों में कवियों को बांट दिया है। प्रगतिशील वर्ग में वे कवि आये हैं जिन्होंने समय की आवश्यकता अथवा सहज मानवीयता से प्रेरित होकर प्रगतिवादी तत्वों को बिना वाद के आग्रह के स्वीकार किया है और इतर प्रवृत्तियों के साथ-साथ प्रगतिवादी प्रवृत्तियों को भी सम्यक् अभिव्यक्ति दी है। इस वर्ग के प्रमुख कवि हैं—निराला, पन्त, दिनकर। दूसरे वर्ग में वे कवि हैं जो शुद्ध रूप से प्रगतिवादी हैं। अर्थात् जिन्होंने साम्यवादी सिद्धांतों की परिधि में अपनी काव्य-चेतना को मुख्य या एकमात्र प्रवृत्ति के रूप में प्रगतिवाद को स्वीकार किया है। इस वर्ग के कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, आदि प्रमुख हैं। यहाँ दोनों वर्गों के कवियों का विवेचन प्रस्तुत है।

## प्रथम वर्ग

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला—निराला जी हिन्दी के ऐसे प्रखर आलोक-

स्तम्भ हैं जिनकी कविता वादों का आग्रह लेकर नहीं चली लेकिन जिन्हें कई वादों के पुरस्कर्त्ता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। छायावाद की तरह प्रगतिवाद भी उनकी महत्वपूर्ण देन से समृद्ध है। यहाँ उनकी विभिन्न रचनाओं में प्राप्त प्रगतिवादी प्रवृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत है।

अनामिका—निराला की सम्पूर्ण काव्य-साधना का प्रतिनिधित्व करने वाली कृति उनकी अनामिका है। उसमें उनका अद्वैतवादी,'स्वच्छन्दतावादी, यथार्थवादी और प्रगतिशील दृष्टिकोण जीवन के विभिन्न परिपार्श्वों के चित्रण मे अभिव्यक्त हुआ है। किन्तु स्वच्छन्दतावाद का स्वर ही प्रमुख है। प्रगतिशीलता की दृष्टि से उसमे संग्रहीत 'खुला आसमान', 'मित्र के प्रति', 'दान', 'तोड़ती पत्थर', 'वे किसान की नई बहू की आँखें' और 'वन-बेला' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'खुला आसमान' में गाँव के जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है। उसमें कवि की अनुभूति का भी दर्शन होता है मात्र विषयगत इतिवृत्ति का नही। 'मित्र के प्रति' मे मित्र प्राचीन स्वर को ही रस का स्रोत मानता है, नवीनता से उसे चिढ़ है। इस पर कवि मित्र की दृष्टि का मजाक उड़ाता है और छन्दपाश को तोड़ने का औचित्य प्रमाणित करता है। 'दान' मे मानव-सेवा से विचलित धर्मान्धता का परिचय मिलता है। वानर मालपूए खाते हैं और भिक्षुक को उपेक्षा प्राप्त होती है। प्रकृति के पुजारी रस-लम्पट कवि पर भी अच्छा व्यंग्य है। 'दान' के दीन भिक्षुक का चित्र देखिये—

एक ओर पथ के, कृष्ण काय
कंकाल शेष नर मृत्युप्राय
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल
भिक्षा को उठा, दृष्टि निश्चल
अति क्षीण कण्ठ, है तीव्र श्वास
जीता ज्यों जीवन से उदास। (पृ० २४)

'तोड़ती पत्थर' की मजदूरनी वंदिनी भारतमाता की प्रतिमा सी लगती है। दीन-दुखियो पर लिखी जाने वाली प्रगतिवाद की मर्मस्पर्शी और कलात्मक कविताओं मे 'तोड़ती पत्थर' का स्थान सर्वोच्च है। कितने प्रगतिवादी कवियो ने किसान, मजदूर के प्रति जो सहानुभूति दिखलाई है, उसमे हृदय की सचाई के बदले कृत्रिमता का दर्शन होता है। यदि कवियों के हृदय में किसान-मजदूरों की आर्थिक और सामाजिक दुरवस्था को देखकर सच्चा दर्द भी जगा हो तो भी उनकी अभिव्यंजना शैली उसे सशक्त स्वर देने मे असमर्थ रही। इस दृष्टि से निराला की 'तोड़ती पत्थर'

सर्वाधिक सफल रचना है और इसमें कविता के सभी अच्छे गुण विद्यमान हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार
पेड़, वह, जिसके तले बैठी हुई स्वीकार
श्याम तन, भर बंधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ, करती बार-बार प्रहार
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार। (पृ० ७८)

कोई छायादार पेड़ नहीं, जिसके तले वह मजदूरिन दो-पहर की चिलचिलाती धूप में भी सड़क पर बैठकर गिट्टी तोड़ रही है। उसका रंग श्यामल है और तन में भरी हुई जवानी अभी तक बँधी है, मर्यादित है छलकी नहीं। उसके गुरु हथौड़े की चोट अट्टालिका पर भी ध्वनित होती है। लगता है सभी की छांह छीनकर कुछ के लिए खड़ी तरु मालिका-सी अट्टालिका हथौड़े की चोट खा रही है।

कविता के अन्त में चोट खाकर भी न रोनेवाली जैसी मजदूरिन अपनी सम्पूर्ण बेबसी और भोलेपन के साथ साकार हो उठी है।

वस्तुतः निराला जी की 'तोड़ती पत्थर' सामाजिक विषमता को व्यक्त कर पाठकों के हृदय में सर्वहारा वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति जगा देती है।

## तुलसीदास

यद्यपि 'तुलसीदास' किंकर्तव्यविमूढ़ और विपण्ण मध्यकालीन भारत के चित्र के परिप्रेक्ष्य में तुलसीदास के जीवन का नाटकीय इतिवृत्त प्रस्तुत करता है, तो भी कवि जिस युग में जी रहा था उसका भी प्रभाव उसमें परिलक्षित होता है। शूद्रों का जीवन कितना अवसादपूर्ण और निराश्रित रहता है इसकी ओर भी कवि का ध्यान गया है। पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति कवि का व्यंग्य और क्षोभ इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

वह रक यहाँ जो हुआ भूप, निश्चय रे
चाहिए उसे और भी और
फिर साधारण को कहाँ ठौर ?

जन-साधारण को कहाँ ठौर मिलेगा जबकि गरीबों से उठने वाले पूंजीपति

नित्य अधिक सचय के पीछे लगे रहते हैं ? यह पूंजीवादी व्यवस्था का ही तो परिणाम है कि धनी नित्य और अधिक धनवान होते जाते हैं और गरीबों की दशा निरन्तर दोहन-शोषण से बिगड़ती जाती है।

## गीतिका

'गीतिका' में प्रधानतः गहरी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने वाले कलात्मक गीत संगृहीत हैं। इसके कतिपय गीतों में प्रगतिवादी प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रमाण में कुछ पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं—

पुस्तक के दसवें गीत में शोषकों से अनुरोध है कि वे दीन-दुखियों के जीवन को बर्बाद नहीं करें—

छोड़ दो, जीवन यों न मलो।
ऐंठ अकड़ उसके पथ से तुम
रथ पर यों न चलो।

* * *

मिला तुम्हें सच है अपार धन,
पाया कृश उसने कैसा तन !
क्या तुम निर्मल, वही अपावन ?—
सोचो भी, सभलो।

तिरपनवां गीत मनुष्य की शोषण-वृत्ति और स्पर्द्धान्धता की भर्त्सना करता है—

स्पर्द्धान्ध जन, गात्र
जर्जर अहो रात्र,
शेष - जीवन - मात्र,
कुड्मल गताघ्राण।
चेतनाहीन मन
मानता स्वार्थ धन,
दष्ट ज्यों हो सुमन,
छिद्र-शत तन-मान !

इसके अतिरिक्त एक देश दूसरे देश का शोषण करता है, जीवन लूटता है— आज की यही राजनीति है—

देश, देश के प्रति, तन,
हरता धन, जन, जीवन;
व्याध, बेध शर से, दे
रहा रे अशेष ज्ञान !

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'गीतिका' में भी प्रगति-तत्व उपलब्ध है।

## कुकुरमुत्ता

यों तो प्रारम्भ से ही 'निराला' की कृतियों में शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति और संवेदना का दर्शन होता है, किन्तु सन् '४१ के बाद उनकी रचनाओं में उसका स्वर तीव्र हो गया है और समाज के अशिव-तत्व उनके व्यंग्यबाणों के लक्ष्य खूब बने हैं।

कुकुरमुत्ता का व्यंग्य बड़ा मर्मभेदी और तीक्ष्ण है। व्यंग्य के शिकार साम्यवादी, अवसरवादी और कुत्सित बुद्धिवादी भी हुए हैं। इस पुस्तक में कुकुरमुत्ता निम्नवर्ग का तथा गुलाब उच्च वर्ग का प्रतीक है। किन्तु कुकुरमुत्ता निम्नवर्ग के अतिरिक्त 'साम्यवादी नेताओं' का प्रतीक भी है जो अपने समर्थन में वेदों से लेकर आज तक की ज्ञान-राशि को अपने चश्मे से देखते हैं।[१]

पूँजीवादी व्यवस्था और संस्कृति पर कठोर प्रहार करते हुए कवि लिखता है—

अबे, सुन बे गुलाब
भूल मत जो पाई खुशबू रंगो-आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है केपटलिस्ट
कितनों को तूने बनाया है गुलाम
माली कर रक्खा, सहाया जाड़ा घाम। (कुकुरमुत्ता, पृ० १)

## बेला

गीतिका में कवि काव्य और संगीत की उदात्त भूमि पर था, इसके विपरीत बेला में गरिमा और गांभीर्य को त्याग कर वह सामान्य धरातल पर उतर आया है; साथ ही उर्दू की विशेषताएँ अपनाने के प्रयास का 'बेला' प्रयोगस्थल बन गई है। प्रगति-तत्व की भी उसमें कमी नहीं। इसी दृष्टि से गीत संख्या-सैंतालिस, बावन, सनतावन, उनसठ, साठ, बासठ, अस्सी और अठासी विशेष उल्लेखनीय हैं। भिखारी पर विभिन्न दृष्टियों की प्रतिक्रिया कैसी-कैसी होती है उसे इन पंक्तियों में देखिए—

१. निराला—धनंजय वर्मा, पृ० १७८।

भीख माँगता है अब राह पर,
मुट्ठी भर हड्डी का यह नर।
एक आँख आज के वानिज की
पराधीन होकर उस पर पड़ी;
कहा कला ने, कल का यह वर।
एक आँख शिक्षा की हेठी से
देखने लगी उसे अमेठी से,
कहा खुबलकर छोटा भूधर।
एक आँख कारीगर की गड़ी,
कहा, आदमी को यह है छड़ी,
खेदे कोई इसको लेकर।
एक आँख पड़ी महाराज की,
कहा, देख ली है स्तुति व्याज की,
मानव का सच्चा है यह घर।
एक आँख तरुणी की जो अड़ी,
कहा, यहाँ नहीं कामना सड़ी,
इससे मैं हूँ कितनी सुन्दर। (बेला, पृष्ठ ५३)

कवि इनकलाब चाहता है और चाहता है कि अमीरों की हवेली गरीबों की पाठशाला बन जाये—

जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ।
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अँधेरा का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे; टाट बिछाओ। (पृ० ७०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'बेला' भी प्रगति के संदेश से सम्पन्न है, इसमें सन्देह नहीं।

## नये पत्ते

व्यंग्य के धरातल पर नवीन स्वर में जनवादी भावनाओं के साथ 'नये पत्ते' को कवि ने पल्लवित किया है। इसमे कुकुरमुत्ता की भी कुछ रचनायें ले ली गई हैं।

'इसकी रानी और कानी' का करुण यथार्थ हृदय पर मार्मिकता के साथ रूपायित हो उठता है।

"थोड़े के पेट में बहुतों को आना पड़ा" में पूँजीपतियों साम्राज्यवादियों के माया-जाल का अच्छा वर्णन है—

रामराज के पहले के दिन आये।
बानिज के राज ने लक्ष्मी को हर लिया।
टापू में ले चलकर रखा और कैद किया।
एक का डंका बजा,
बहुतों की आँख झपी।
लहलहाती धरती पर रेगिस्तान जैसा तपा। (पृ० २२)

समाजवादी समाजशास्त्र के अनुसार मानव-समाज के विकास तथा शोषण के बदलते ढंग की जो चर्चा मिलती है, उसका क्रम शब्दों में निराला जी ने प्रभावशाली चित्रण किया है। "राजा ने अपनी रखवाली की" इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

राजे ने अपनी रखवाली की;
किला बनाकर रहा,
बड़ी-बड़ी फौजें रखीं।
चापलूस कितने सामन्त आये।
मतलब की लकड़ी पकड़े हुए।
कितने ब्राह्मण आये
पोथियों में जनता को बाँधे हुए।
कवियों ने उसकी बहादुरी के गीत गये,
लेखकों ने लेख लिखे,
ऐतिहासिकों ने इतिहासों के पन्ने भरे,
नाट्य-कलाकारों ने कितने नाटक रचे,
रंगमंच पर खेले।
जनता पर जादू चला राजे के समाज का।
लोक नारियों के लिये रानियाँ आदर्श हुईं।
धर्म का बढ़ावा रहा धोखे से भरा हुआ।
लोहा बजा धर्म पर, सभ्यता के नाम पर।

खून की नदी बही।
आँख-कान मूँदकर जनता ने डुबकियाँ ली।
आँख खुली-राजे ने अपनी रखवाली की। (पृ० २५)

'चर्खा चला' शीर्षक कविता भी भारतीय समाज में समयानुसार बदलते रूपो की रंगशाला है जिसमें व्यंग्य के पुट भी मिले है। 'तारे गिनते रहे' में शोषक वर्ग के दाव-पेच तथा जनता के संघर्ष की व्यंग्यपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

'प्रेम संगीत' आज के कायर, प्रपंची तथा लम्पट पुरुष की कलई खोलकर रख देता है। जमीदार के सिपाही और सरकार के सिपाही दोनों मिलकर किस प्रकार बेचारे गरीब किसानो का रक्त चूसते थे और उनके ताव को लोग किस तरह चुपचाप सह लेते थे उसका सही और मार्मिक चित्र देखिये—

जमीदार का सिपाही लट्ठ कन्धे पर डाले
आया और लोगों की ओर देखकर कहा,
डेरे पर थानेदार आये हैं,
डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है।
एक हफ्ते के अन्दर देना है।
चलो, बात दे आओ॥ (पृ० ५५)

'देवी सरस्वती' मे देहाती जीवन का यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है। 'डिप्टी साहब आये' का बदलू जमीदार के भला चाहने वाले गोड़ैत की नाक पर इसलिये घूँसा मारता है कि वह जमीदार के पक्ष मे झूठ बोलने के लिये लोगो से कह रहा था—

"गोड़इत ने पैर रोपा
जमीदार के है हम,
मालिक का भला जहाँ, वहाँ है हमारा भला।"
जमकर बदलू ने बदमाश को देखा, फिर
उठा क्रोध से भरकर
और घूंसा तान कर नाक पर दिया।
गोड़इत प्रेमी जन था,
जमी घूमने लगा। (पृ० ८८)

स्पष्ट है कि कवि की सहानुभूति विद्रोही किसान बदलू के साथ है। बदलू का विद्रोह सफल भी होता है—

बदल गया सब रंग,
सब लोग सत्य कहने के लिए तुल गये
तब तक सिपाही थानेदार के भेजे हुए
आये और दाम दे-देकर माल ले गये। (पृष्ठ ८८)

'महगू महगा रहा' कविता कांग्रेस मे मिलकर जमींदारों, पूँजीपतियो द्वारा चलाए जाने वाले शोषण-चक्र का परिचय देती है। देहात के किसान अच्छी तरह समझ रहे हैं कि कांग्रेस में भी जमींदार ही हैं, अतः उनके कल्याण की बात बहुत दूर है—

महगू ने कहा, 'हां' कम्पू में किरिया के
गोली जो लगी थी,
उसका कारण पंडित जी का शागिर्द है,
रामदास को कांग्रेस मैन बनानेवाला,
जो मिल का मालिक है।
यहाँ भी वह जमींदार-बाबू से लगा ही है। (पृष्ठ १०२)

किन्तु कवि किसानो को हताश नही रहने देता, वे किसान जानते हैं कि कुछ ऐसे लोग हैं जो सचमुच उनका भला चाहते हैं—

महगू ने कहा, एक उड़ी खबर सुनी है,
हमारे अपने है यहाँ बहुत छिपे हुए लोग,
'मगर चूँकि अभी ढीला-पोली है देश मे,
अखबार व्यापारियो की ही सम्पत्ति है;
राजनीति कड़ी से भी, कड़ी चल रही है,
वे सब जन मौन हैं इन्हें देखते हुए,
जब ये कुछ उठेंगे,
और बड़े त्याग के निमित्त कमर बाधेंगे,
आयेंगे वे जन भी देश के धरातल पर,
अभी अखबार, उनके नाम नही छापते। (पृष्ठ १०३)

उपर्युक्त उदाहरणो से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि 'नये पत्ते' निराला जी की पूर्णतः जनवादी कृति है, जिसमे विलक्षण प्रयोग एवं स्वतंत्र भाव-संयोग से जन जीवन का यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है। यह रचना कला का सर्वथा नूतन आयाम लेकर उपस्थित हुई जिससे प्रयोगवाद को भी दिशा-बोध प्राप्त हुआ।

## अणिमा

अणिमा के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए धनंजय वर्मा ने लिखा है कि अणिमा मे "एक ओर विषाद, निराशा के स्वर हैं; रहस्य, आलोक और भक्ति का प्रश्रय है तो दूसरी ओर समाज" के विद्रूप और विकलांग पर व्यंग्य प्रहार है ![1]

चूंकि कवि निरन्तर उपेक्षा और कटु आलोचना का शिकार रहा, वह सन् ४२-४३ से ही अंशतः विक्षिप्त हो गया था; अणिमा की रचना बढ़ती हुई विक्षिप्तावस्था में हुई थी ! तो भी प्रगति-तत्व के नाम पर ऐसे भरतवाक्य मिल ही जाते हैं जिसमे दीनों के कल्याण की बात की जाती है। यथा—

दलित जन पर करो करुणा
दीनता पर उतर आये
प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा। (पृष्ठ ११४)

किन्तु कुछ कविताएँ ऐसी अवश्य हैं जो यथार्थवादी शैली की व्यंग्य-प्रधान रचनाएँ कही गई हैं। 'बाजार' शीर्षक कविता मे दुखिया और सुखिया के विवाद में ग्रामीण यथार्थ का दर्शन होता है। 'मेरे घर के पच्छिम की ओर रहती है' मे निम्न-स्तर की युवती की तस्वीर मिलती है। 'चूंकि यहाँ-दाना है' कविता दाने के महत्व को प्रतिष्ठित करती है। जीवन के जितने व्यापार और नाते-रिश्ते हैं सभी दाने के आश्रित हैं।

## सुमित्रानन्दन पंत

पंत जी आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उज्ज्वलतम नक्षत्रो में से एक हैं। छायावाद के सर्वाधिक सौन्दर्यप्रिय तथा प्रकृति-प्रेमी कवि के रूप मे विख्यात होने के साथ ही प्रगतिवाद के प्रथम पुरस्कर्ता कहे जाने का भी श्रेय इन्हे ही प्राप्त हुआ।

पंत जी प्रारम्भ मे प्रकृति प्रेमी थे, मध्य मे प्रगतिवादी हुए और स्वातंत्र्योत्तर काल मे अरविन्दवादी बन गए। इनकी प्रगतिवादी प्रवृत्ति का युग सन् १९३६ से लेकर सन् '४० तक का है और इस अवधि की रचनाएँ 'युगांत', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' हैं।

ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट है कि कवि विभिन्न जीवन-दर्शनो मे प्रभावित था। किन्तु वह कभी भी अनात्मवादी नही बना, बराबर अध्यात्मवाद का वह समर्थक रहा है। जहाँ तक उनकी प्रगतिवादी रचनाओं का प्रश्न है, उनमें यह मानव-कल्याण

१. निराला—धनंजय वर्मा, पृष्ठ १६५।

के लिए साम्यवादी क्रान्तिकारी योजना तथा इतिहास, धर्म, समाज की मार्क्सवादी व्याख्या से सहमत रहते हुए भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारता है। इसके सम्बन्ध में श्री विश्वम्भर 'मानव' का मन्तव्य सुनिए—"संसार, इतिहास और समाज की जैसी व्याख्या साम्यवाद करता है, वैसी ही व्याख्या पंत जी ने भी की है—वही संसार को सत्य मानना, वही सामूहिक दृष्टि से सब कुछ सोचना, वही पूंजीवाद को सब प्रकार के कष्टों के लिए उत्तरदायी ठहराते हुए उसे मरणासन्न घोषित करना, वही द्वन्द्वात्मक तर्क-प्रणाली से काम लेना, वही साम्यवाद के साथ स्वर्णयुग का पदार्पण मानना—सब कुछ वही है। साम्राज्यवाद और पूंजीपतियों की निन्दा भी कवि ने साम्यवादी दृष्टिकोण से की है। × × × पंत जी साम्यवाद को उसी रूप में स्वीकार नहीं करते जिस रूप में वह पाया जाता है। यहीं साम्यवादियों के साथ उनका मतभेद प्रारम्भ होता है। × × × साम्यवादी विचारधारा को जो उन्होंने स्वीकार किया था, वह लोक-कल्याण की भावना से।"

अस्तु, पंत जी का प्रगतिवाद पूर्णतः मार्क्सवाद के घेरे में नहीं आ पाता। लेकिन इसमें दो विचार नहीं हो सकते कि पंत जी ने ही सर्व-प्रथम काव्य-जगत् में समाजवाद का स्वागत किया और उसके अनुरूप विषय-वस्तु से लेकर शिल्प तक में परिवर्तन करने का प्रयास किया।

'युगांत' का प्रकाशन सन् '३६ में हुआ। इसमें प्रथम बार जीवन की वास्तविकता और यथार्थ धरातल की ओर कवि की दृष्टि आकर्षित होती है। प्रकृति और सौन्दर्य का पुजारी जीवन की भी चिन्ता करने लगता है। प्राचीनता के मतवाद ने जीवन को श्रीहीन कर दिया है। अतः कवि नवीनता की कामना में गा उठता है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त-ध्वस्त हे शुष्क-शीर्ण !
हिम ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीत राग, जड़, पुरा चीन !! (युगपथ, पृष्ठ ११)

'ताजमहल' कवियों के लिए प्रेम-भावना को उद्दीप्त करने वाला प्रेरणास्रोत रहा है। किन्तु पंत जी ने उसे मृत्यु का अपार्थिव पूजन और आत्मा का अपमान कहकर पुकारा—

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
संग सौध में हो शृङ्गार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास विहीन रहे जीवित जन। (पृष्ठ ४८)

'युगांत' वस्तुतः उस सन्धिवेला के समान उपस्थित हुआ [illegible] की चाँदनी फीकी पड़ जाती है और प्रगतिवाद [illegible] होता है।

## युगवाणी

'युगवाणी' का प्रकाशन सन् '३९ में हुआ। [illegible] स्वयं कवि ने स्पष्टीकरण दिया है कि "मानव-[illegible] तथा पृथ्वी पर मानव स्वर्ग बसाने का वस्तु-[illegible] मध्ययुग के दार्शनिकों ने जिस प्रकार बाह्य [illegible] माया या मिथ्या कहा है और कवि के [illegible] अन्तर्जीवन सत्य की उपेक्षा कर उसे बहिर्[illegible] में इन दोनों एकांकी दृष्टिकोणों का [illegible]

इसके अतिरिक्त कवि विकसित [illegible] समन्वय की उपयोगिता की चर्चा [illegible] विकसित समाजवाद को विशेष [illegible] में हम मनुष्यत्व से विरक्त होकर [illegible] गिर जायें।" (पृ० ग)

इसके बाद फ्रायडीय [illegible] है—"राग सम्बन्धी आन्दोलन [illegible] प्राणि-शास्त्रीय मनोविज्ञान [illegible] को संस्कृत बनाने के लिए [illegible] एक मूल प्रवृत्ति है।" ([illegible]

अनिमेष, अचितवन, काल-नयन ?
निःस्पन्द शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो भू को !
जीव प्रसू को ! (पृ० ७)

मार्क्स के प्रति उद्‌गार व्यक्त करते हुए कवि ने आशा व्यक्त की थी—

साक्षी है इतिहास, आज होने को पुनः युगान्तर,
श्रमिकों का शासन होगा अब उत्पादन यन्त्रों पर !
वर्गहीन सामाजिकता देगी सब समसाधन,
पूरित होंगे जन के भव जीवन के निखिल प्रयोजन। (पृ० २६)

संकीर्ण भौतिकवादियों की आलोचना करते हुए कवि ने लिखा है कि—

आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम ?
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम संवार कर चाम ? (पृ० ३०)

धनपतियों का चरित्र गरीबों का शोषण, सुन्दरी और सुरा के सेवन का नृशंस इतिहास है। उनका चित्र देखिये—

वे नृशंस हैं ! वे जन के श्रमबल से पोषित
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित !
शय्या की क्रीड़ा कन्दुक है जिनको नारी,
अहम्मन्य वे, मूढ, अर्थबल के व्यभिचारी। (पृ० ३१)

मध्यवर्ग के लोग गत संस्कृति के दास, निजवर्ग—प्रतारक, प्रभुसेवक, संकीर्ण हृदय, अस्थियों के कोमल, परहित-निष्क्रिय होने के साथ ही ज्ञान, विज्ञान नीतियों के उन्नायक, जीवन-प्रिय, तार्किक, व्यापक मति और व्यक्तित्व प्रसारक भी होते हैं। अतः उन्हें परस्पर-विरोधी धर्मों का संगम कहा जा सकता है—

गत संस्कृति का दास ! विविध विश्वास विधायक,
निखिल ज्ञान, विज्ञान नीतियों का उन्नायक !
उच्च वर्ग की सुविधा का शास्त्रोक्त प्रचारक,
प्रभु सेवक, जनवंचक वह, निज वर्ग प्रतारक !
भोगशील, धनिकों का स्पर्धी, जीवन-प्रिय अति,
पाप-पुण्य संत्रस्त, अस्थियों का वह कोमल,
वाक् कुशल, धीदर्पी, अति विवेक से निर्बल !
मध्य वर्ग का मानव, वह परिजन पत्नी-प्रिय,
यशकामी, व्यक्तित्व प्रसारक, परहित निष्क्रिय ! (पृ० ३२)

किन्तु मध्यवर्गीय मानव यदि श्रमजीवी है तो वह नवयुग का वाहक भी बन जाता है—

श्रमजीवी वह यदि श्रमिकों का हो अभिभावक,
नवयुग का वाहक हो, नेता लोक प्रभावक ! (पृ० ३२)

स्पष्ट है कि उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने श्रमिकवर्ग के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है।

कृषक विश्व का भार ढोने वाला है और भार से दबकर उसकी कमर टेढ़ी हो गई है। सभ्य संसार उसकी पीठ का घाव बन गया है। उसमें बुद्धि नहीं और रूढ़ियों का वह सदा रक्षक रहा है। लेकिन ममत्व का वह अवतार होता है। इन पंक्तियों को देखिये—

युगयुग का वह भारवाह, आकटिनत मस्तक,
निखिल सभ्य ससार पीठ का उसकी स्फोटक !
वज्र मूढ, जड भूत, हठी, वृष बाधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढियो का चिररक्षक। (पृ० ३३)

किन्तु श्रमजीवी क्रान्ति का अग्रदूत, जीवन का शिल्पी और श्रम से पवित्र है—

लोक क्रान्ति का अग्रदूत, वर वीर जनादृत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित !
चिर पवित्र वह ! भय, अन्याय, घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी,—पावन श्रम से प्रक्षालित ! (पृ० ३४)

कवि अपने उस स्वप्न को यथार्थ मे परिणत होते देखना चाहता है, जिसके अनुसार विश्व को एक व्यक्तित्व मिल जाए और व्यक्ति विश्वमय हो जाए—

मन के स्वप्न
आज विश्व को व्यक्ति,
व्यक्ति को विश्व बना जग-जीवन लाओ।
सत्य बनाओ, हे,
मेरे जीवन स्वप्नों को
सत्य बनाओ ! (पृष्ठ ६६)

क्रान्ति का प्रशस्तिगान गाते हुए वह कहता है कि क्रान्ति विध्वंस और सृजन दोनों है। वही संस्कृति को बदलने वाली प्रलयनृत्य है तथा पुरातन के पीलेपन को तोड़कर हरियाली के सगीत में जीवन-वसत लहराने वाली है—

तुम चिर विनाश, नव सृजन गोद मे लाती,
चिर प्राकृत, नव संस्कृति के ज्वार उठाती !
तुम रुद्र, प्रलय-तांडव में ही सुख पाती।
जीवन वसंत तुम, पतझड़ बन नित आती।

अब तक के कतिपय उद्धरणो से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि युगवाणी में सैद्धान्तिकता के प्रति जितना आग्रह है उस अनुपात में अनुभूतियों के कलात्मक सौंदर्य को अनुस्यूत करने की चेष्टा नहीं झलकती। जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है, तार्किक विश्लेषण की उपेक्षा कर सिद्धान्तो की खिचरी पकायी गई है। समाजवाद को वहीं तक स्वीकृति मिली है जहाँ तक वह आर्थिक विषमता मिटाने में सहायक है। अतः दर्शन की दृष्टि से पंत जी अध्यात्मवादी ही कहे जाएँगे।

## ग्राम्या

जैसा कि नाम से ही ध्वनित होता है, 'ग्राम्या' मे ग्राम्य जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है। किन्तु संवेदना, सहानुभूति और सहवास के अभाव में कृति ग्राम्य-जीवन की वास्तविक अनुभूतियो से स्पन्दित न हो सकी है। वह मात्र बौद्धिक सहानुभूति का प्रदर्शन होकर रह गई है। ऐसा लगता है कि हिन्दी का मूर्धन्य कवि युगवाणी से ही यथार्थवाद को निरपेक्ष इतिवृत्त समझने की भूल कर रहा हो। लेकिन इतना तो सबको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मजदूर, किसान, नारी, मध्यवर्ग, ग्रामीण सभ्यता आदि के जो पत जी की कृतियों मे शब्द चित्र-मिलते है, वे अनूठे है।

श्री शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है कि 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की जीवप्रभू 'चींटी', 'नारी', 'दो लड़के', 'निश्चय', 'खोज', 'लेनदेन', 'झंझा में नीम', 'ग्राम युवती', 'ग्रामश्री', 'वे आँखें', 'धोबियों का नृत्य', 'स्वीट पी के प्रति', 'भारतमाता', 'वह बुड्ढा', 'गंगा', 'चमारों का नाच', 'सध्या के बाद', 'रेखाचित्र', 'पतझर' आदि प्रकृति और जीवन के मासल चित्र अंकित करने वाली ऐसी कविताएँ हैं। जिन्होने छायावादी कविता को एक नया प्रगतिशील काव्यादर्श और जीवन-बोध दिया। सन् १८३८ और १८४५ के बीच इन कविताओ ने प्रगतिशील धारा को अपना नया रूप-सस्कार करने की प्रेरणा दी"[1]।

भारत के ग्राम आज रूढ़िग्रस्त और अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुए है। कवि की दृष्टि मे—

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष–शिवदान सिंह चौहान, पृ० ११०।

यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित ?

इसके नंग-धड़ंग लड़के मिट्टी की प्रतिमाएँ लगते हैं—

मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे कुचैले जीर्ण वसन,
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए,
ये गँवई लड़के भू के धन ? (पृष्ठ २७)

ग्राम युवती की अङ्ग-अङ्ग से खिलखिलाती उमङ्ग कवि के मन प्राणों को मुग्ध कर लेती है। उसके मन की गुदगुदी 'ग्राम युवती' शीर्षक कविता में आकर्षक ढङ्ग से मुखर हो उठी है—

सरकाती पट
खिसकाती लट—
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युगघट !
हँसती खलखल
अबला चंचल
ज्यों फूट पड़ा हो स्रोत सरल
भर फेनोज्ज्वल दशनों से अधरों के तट।

किन्तु दुर्दिन के थपेड़ों से उसकी सारी हँसी-खुशी शीघ्र ही जवानी के साथ ही मुरझा जाती है—

रे दो दिन का
उसका यौवन !
सपना छिन का
रहता न स्मरण !
दुःखों से पिस
दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन
ढह जाता असमय यौवन-धन ! (पृष्ठ १८)

मजदूरों के प्रति कवि के हृदय में स्नेह है। वह जन-जन को सहोदर-सा समझता है—

सर से आंचल खिसका है, धूल भरा जूड़ा–
अधखुला वक्ष, ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा;
हँसती, बतलाती सहोदरा-सी जन-जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से। (पृष्ठ ८४)

कवि चाहता है कि नारी-पुरुष का प्रेम पर्दे से मुक्त हो जाए। समाज से लाज का पहरा टूटना चाहिए। नारी के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करने में भी पुरुष डरता है, वह कितना कायर है!—

धिक् रे मनुष्य; तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर! (पृ० ८६)

पूँजीवादी जोंक गरीबों का रक्त चूसते रहते हैं। गरीबों की वे आँखे कितनी विवश हैं, कितनी सजल हैं, जिनमें महाजन के अत्याचार का दर्द, पत्नी और जवान बेटे की मृत्यु से उत्पन्न गहरी वेदनापूर्ण निराशा का पानी छलकता है—

"बिका दिया घर द्वार,
महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी,
रह रह आँखों में चुभती वह
कुर्क हुई बरधों की जोड़ी।"
"बिना दवा दर्पन के घरनी
स्वरग-चली-आँखें आती भर,
देख-रेख के बिना दुध मुँही
बिटिया दो दिन बाद गई मर।"
"घर पैर की जूती, जोरू
न सही एक, दूसरी आती,
पर जवान लड़के की सुधकर
साँप लोटते, फटती छाती। (पृ० २४)

'भारतमाता' में कवि की दृष्टि बड़ी मौलिक और यथार्थवादी रही है। भारतमाता किसान के घर की उस वृद्धा-सी लगती है जो धूप में काम करती है और दोपहर में किसी वटवृक्ष के तले मूर्तिवत् खड़ी अपने अर्धक्षुधित, शोषित मूढ़ असभ्य, अशिक्षित पुत्रों की चिन्ता में खोई हो—

तीस कोटि संतान नग्न तन
अर्धक्षुधित शोषित निरस्त्र जन
मूढ़ असभ्य अशिक्षित निर्धन
नत मस्तक तरु तल निवासिनी
भारत माता ग्रामवासिनी। (पृ० ४८)

इसमें कोई संदेह नहीं कि 'ग्राम्या', 'युगवाणी' से अधिक भावात्मक और कम सिद्धान्तपरक है।

इस प्रकार हम देखते हैं पंतजी ने अपने को मार्क्सवादी विचारधारा के अनुरूप ढालने का प्रयास किया तो, किन्तु यह उनकी संस्कारगत प्रवृत्ति के अनुकूल न होने से उनकी अधिकांश प्रगतिवादी रचनाएँ बेजान बनी रह गईं। उन्होंने पूर्णरूप से साम्यवाद की क्रान्ति की अवधारणा को कभी स्वीकार नहीं किया तथा अर्थ साम्य की जगह भूत और आत्मा के साम्य पर अधिक बल दिया।

## रामधारी सिंह 'दिनकर'

रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'रेणुका' का प्रकाशन सन् '३५ में हो चुका था। उसके पश्चात् उनका 'हुँकार' सन् '३८ में प्रकाशित हुआ जो प्रगति तत्व के लिये विशेष महत्वपूर्ण रचना है। हुँकार का प्रमुख स्वर राष्ट्रीयता और क्रान्ति है। अँग्रेजी शासन को सात समुद्र पार फेंकने के लिये हिंस्र क्रान्ति की अनिवार्यता अनुभव करते हुए कवि गांडीव और गदा चाहता है—

रे! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर!
पर, फिरा हमें गांडीव, गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर। (हुँकार, पृ० २६)

यहाँ गांधी जी के सत्याग्रह के स्थान पर मार्क्स की खूनी क्रान्ति के प्रति कवि का झुकाव द्रष्टव्य है। जब शोषण सीमा पार करता है और समाज को निष्प्राण कर देता है उस समय दलितों का धर्म शांति नहीं हो सकता—

घूम रही सभ्यता दानवी, 'शांति! शांति!' करती भूतल में,
पूछे कोई भिगो रही वह क्यों अपने विष-दन्त गरल में।
टांक रही हो सुई चर्म पर, शान्त रहें हम तनिक न डोलें,
यही शांति, गरदन कटती हो, पर हम अपनी जीभ न खोलें?

बोले कुछ मत क्षुधित, रोटियाँ खान छीन खाये यदि कर से;
यही शान्ति, जब वे आयें, हम निकल जायँ चुपके निज घर से ?
(पृ० २१)

धरती जोतकर खून-पसीने से उगाने वाले किसान जुवान भी हिला नहीं पाते, आँसू पीकर रह जाते है। उनके बच्चे माँ के सूखे स्तन चूस कर रो-बिलप कर सो जाते हैं। तब—

विवश देखती माँ, अंचल से नन्ही जान तड़प उड़ जाती;
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।
कब्र-कब्र मे अबुध बालकों को भूखो हड्डी रोती है;
"दूध-दूध" की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है। (पृ० २२)

अन्त में कवि शांति के बेड़े को तोड़कर क्रान्ति का शंख फूँक देता है—

जय मानव की धार साक्षिणी! जय विशाल अम्बर की जय हो!
जय गिरिराज! विंध्य गिरि, जय जय! हिन्द महासागर की जय हो!
हटो व्योम के मेघ, पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं;
"दूध, दूध!............ओ! वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।
(पृ० २३)

कब तक दानवो को रक्त पिलाया जाये ? भारतवर्ष युगों से अनय का भार ढोता रहा। अब उसे प्रतिशोध चाहिये। वेदना से छाती का उबलता हुआ खून क्रुद्ध आँखों में उतर आया है जिसमे प्रलय की दिगम्बरी का आह्वान अंकित है—

हृदय की वेदना बोली लहू बन लोचनो मे,
उठाने मृत्यु का घूँघट हमारा प्यार बोला,
नये युग की भवानी, आ गई बेला प्रलय की,
दिगम्बरि! बोल, अम्बर मे किरण का तार बोला। (पृ० २६)

देश के विभाजन का प्रश्न तथा हिन्दू-मुस्लिम विवाद इस काल में तीव्र हो उठा था। कवि की प्रतिक्रिया 'तकदीर का बँटवारा' शीर्षक कविता में अपनी सम्पूर्ण तीक्ष्णता के साथ अभिव्यक्त हुई है—

खूँ बहाया जा रहा इन्सान का
सींगवाले जानवर के प्यार में!
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही
मस्जिदों की ईंट की दीवार में। (पृ० ७१)

सींगवाले गोधन के मिथ्या प्यार में इन्सान के खून के प्यासे हिन्दू और मजहब के नाम पर दीवाने मुसलमान देश को तकदीर फोड़ने वाले हैं।

क्रान्ति और प्रगति की दृष्टि से 'विपथगा' 'हुंकार' की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जायेगी। यद्यपि इसकी बिम्ब-योजना में रूमानी मुद्रावली कुमारी की भूमिका प्रधान होने से क्रान्ति की विकरालता मुखर होते-होते रह गई है तो भी हिन्दी साहित्य में इसकी जोड़ी नहीं मिलती। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं;
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती की लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं;
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं;
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण।
झन - झन झन - झन - झन - झनन - झनन। (पृष्ठ ७३)

कुत्तों को दूध मिले, चादर मिले और इन्सान के बच्चे भूखों मरें, माँ की सूखी हड्डी से चिपके रहकर बिना चादर के जाड़े की रात काटें! बाप ऋण उतारने के लिए पापी महाजनों के हाथ अपनी बेटी की देह बेचे! उधर मालिक बनावटी साज-सिंगार में रुपया पानी की तरह बहाए! क्या इसे मनुष्यता सदा सह सकती है? कभी नहीं। पापी महलों का अहंकार स्वयं उस विपथगामिनी क्रान्ति को आमन्त्रित कर लेता है। वह क्रान्ति-कुमारी अंधड़ उठाती हुई अवतरित होती है—

चढ़कर जनून-सी चलती हूँ मृत्युंजय वीर कुमारों पर;
आतंक फैल जाता कानूनों पार्लमेंट, सरकारों पर;
'नीरो' के जाते प्राण सूख मेरे कठोर हुंकारों पर;
कर अट्टहास इठलाती हूँ जारों के हाहाकारों पर;
झंझा-सी पकड़ झकोर हिला देती दम्भी के सिंहासन। (पृष्ठ ७४)

'भविष्य की आहट' में साम्य की चर्चा अनायास साम्यवादी रूस के प्रति कवि के प्यार को स्पष्टतः व्यक्त कर देती है—

आज कम्पित मूल क्यों संसार का?
अर्थ का दानव भयाकुल मौन है;
झोंपड़ी हंस चौंकती, वह आ रहा
साम्य की वंशी बजाता कौन है? (पृष्ठ ७८)

कविता ने हठ किया था कि कवि सरकारी अट्टालिका का लोभ त्याग दे और

कुटिया में वन-फूलों से प्यार करे किन्तु खेद है कि कवि ने अपनी कविता की पुकार को अनसुना कर दिया ! जो हो, हुंकार की 'दिगम्बरी', 'वन-फूलों की ओर', 'दिल्ली', 'हिमालय' और 'विपथगा' स्वतंत्रता-संग्राम के परिप्रेक्ष्य में सदा स्मरण की जाएँगी। यदि प्रगतिवाद का प्रथम कर्त्तव्य दलितों के हृदय में विद्रोह की आग सुलगाना था तो इसका पूरा-पूरा निर्वाह दिनकर की 'हुंकार' में हुआ है, इसे अस्वीकारना कवि के साथ अन्याय होगा। लेकिन इसी संदर्भ में यह भी स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि विचार तारतम्य के अभाव अनिश्चित जीवन-दृष्टिकोण तथा परिस्थिति की दासता से व्यक्तित्व के खंडित हो जाने के चलते कवि की कृतियों को अवमूल्यन का अभिशाप ढोना पड़ा है। 'रसवंती' कवि को घसीटकर स्वच्छन्दतावाद तथा रहस्यवाद की पुरानी गलियों में ले गई और 'द्वन्द्व गीत' भी प्रगतिवाद की दृष्टि से उल्लेखनीय नहीं है।

## कुरुक्षेत्र

कुरुक्षेत्र का प्रकाशन सन् १९४६ में हुआ है। यह एक विचार-काव्य है जिस पर द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकाओं का प्रभाव पड़ा है। इसकी प्रमुख समस्या युद्ध और शांति है। क्रान्ति का पथ रोकने के लिए शांति की जब तलवार उठती है, तो युद्ध अनिवार्य हो जाता है—

शांति खोलकर खड्ग क्रान्ति का
जब वर्जन करती है,
तभी जान लो किसी समर का
वह सर्जन करती है। (पृष्ठ २१)

स्थायी शांति के लिए समाज में सुख-भोग का समान विभाजन अनिवार्य है—

शान्ति नहीं तब तक जब तक
सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो। (पृष्ठ २१)

यदि कोई किसी का स्वत्व छीन लेता है और युद्ध को पाप कहकर शांत रहने का उपदेश देता है। उस समय क्षमा, दया, तप, तेज की दुहाई गाकर चुप रह जाने वाला कायर है। अत्याचार सहने का दुष्परिणाम यह होता है कि हमारा पौरुष निस्तेज पड़ जाता है—

अत्याचार सहन करने का
कुफल यही होता है,

पौरुष का आतंक मनुज
कोमल होकर खोता है। (पृष्ठ २४)

कवि ने समता, न्याय और विप्लव की चर्चा करते समय व्यक्ति और समुदाय को अलग-अलग करके देखा है, यह भ्रान्ति फैलाने वाली बात है। यथा—

जो अखिल कल्याणमय है व्यक्ति तेरे प्राण में,
कौरवों के नाश पर है रो रहा केवल वही,
किन्तु उसके पास हो समुदायगत जो भाव हैं,
पूछ, उनसे, क्या महाभारत नहीं अनिवार्य था ? (पृष्ठ १६)

यहाँ विचारणीय प्रश्न है कि युधिष्ठिर का कल्याणमय व्यक्ति कौरवों के विध्वंस पर रोता है अथवा कौरवों के साथ चुपचाप आदेश मानकर लाखों मरनेवाले निरपराध सैनिकों तथा विधुर अबलाओं की धुली हुई माँगे देखकर आँसू बहाता है। इस पर गहराई से विचारने पर स्पष्ट हो जाएगा कि यदि केवल कौरवों का विनाश होता तो युधिष्ठिर का कल्याणमय व्यक्ति कभी नहीं रोता। अतः समुदायगत भाव ही उसके व्यक्ति को रुलाता है और वह भाव-विशेष उससे अपना अलग अस्तित्व नहीं रखता। उपर्युक्त उदाहरण से पहले की पंक्तियाँ देखिए—

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमे तप-त्याग को। (पृष्ठ १५)

यहाँ व्यक्ति की शोभा और धर्म-तप, करुणा, क्षमा, विनय, त्याग को समुदाय के नाम पर छोड़ने का उपदेश दिया गया है। लेकिन जो स्वयं शोषण-उत्पीड़न को देखकर विद्रोहपूर्ण नहीं हो उठा, वह भला समुदाय का साथ क्या दे सकता है ? व्यक्तियों के योग से ही तो समुदाय बना है, फिर इस प्रकार की व्याख्या समाजवाद के अनुकूल कहाँ तक कही जा सकेगी ?

चतुर्थ सर्ग मे बुद्धि-विवेक की भर्त्सना की गई है और यह भी सम्यक् विचार के नाम पर भ्रम उत्पन्न करने वाला है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

बुझा बुद्धि का दीप वीरवर
आँख मूँद चलते हैं,
उछल वेदिका पर चढ़ जाते
और स्वयं बलते हैं।

बात पूछने को विवेक से
जभी वीरता जाती,
पी जाती अपमान पतित हो
अपना तेज गवांती।

समझ में नही आता कि विवेक के अभाव में वीरता किस प्रकार शत्रु को पछाड़ सकेगी। वस्तुतः यहाँ कवि ने विवेक को कायर मन्त्रणा से जोड़कर देखा है। इसी कारण विवेक की इतनी दुर्गति हुई है।

सप्तम सर्ग में श्रमिकों का पक्ष ग्रहण कर कवि ने अपनी समाजवादी चेतना का अच्छा परिचय दिया है। मानव-समाज का भाग्य एकमात्र उसका श्रम है उसका बाहुबल है। जो श्रम करता है उसे ही पहले प्रकृति का सुख भोगने का अधिकार है—

जिसने श्रम-जल दिया, उसे
पीछे मत रह जाने दो।
विजित प्रकृति से सबसे पहले
उसको सुख पाने दो। (पृ० ८१)

संन्यास और पलायन के विरुद्ध कवि ने धरती और जीवन के महत्व को स्वीकारते हुए लिखा है—

धर्मराज, कर्मठ मनुष्य का
पथ सन्यास नही है,
नर जिस पर चलता, वह
मिट्टी है, आकाश नही है। (पृ० १०७)

अब तक की चर्चा से इतना स्पष्ट हो गया होगा कि कुरुक्षेत्र पर समाजवाद का प्रभाव है, दुर्बलता के बावजूद यह प्रगतिवाद की एक सशक्त रचना है।

## सामधेनी

इस कृति मे सन् '४१ से '४६ तक की रचनाएँ संगृहीत हैं। इसकी प्रमुख कविताएँ 'आग की भीख', 'जवानियाँ', 'साथी', 'दिल्ली और मास्को' तथा 'जय प्रकाश' हैं। इन कविताओ का प्रमुख स्वर क्रान्ति है। 'दिल्ली और मास्को' में साम्यवादी क्रान्तिदेवी की जय मनाई गई है—

जय विधायिके अमर क्रान्ति की ! अरुण देश की रानी !
रक्त-कुसुम-धारिणि ! जगतारिणि ! जय नव शिवे ! भवानी !

अरुण विश्व की काली जय हो
लाल सितारोंवाली जय हो ?
दलित, वुभुक्षु, विपण्ण मनुज की
शिखा रुद्र मतवाली जय हो !
जगज्ज्योति, जय जय भविष्य का राह दिखानेवाली !
जय समत्व की शिखा, मनुज की प्रथम विजय की लाली !

अरुण देश लाल रूस की लाल-सितारोंवाली क्रान्ति भवानी भविष्य की राह दिखानेवाली और समता की दीपशिखा बनकर जलनेवाली मानवता की पहली विजय की लाली है। जब यह भारत आयेगी तो इसे गंगा में स्नानकर त्रिशूल-धारिणी बनना होगा और साथ ही हिमशृङ्ग से विश्वशांति का उद्घोष कर कल्याण की सुधा पिलानी होगी। कवि युग की लाल भवानी को इसी भारतीय रूप में चित्रित करता है—

हाँ, भारत की लाल भवानी, जवा-कुसुम के हारोंवाली
शिवा, रक्त-रोहित वसना, कबरी में लाल सितारों वाली।
कर में लिये त्रिशूल-कमण्डलु, दिव्यगामिनी, सुरसरिस्नाता,
राजनीति की अचल स्वामिनी, साम्य धर्म-ध्वजधर की माता !
भरत-भूमि की मिट्टी से शृङ्गार सजानेवाली
चढ़ हिमाद्रि पर विश्वशांति का शंख बजाने वाली !

किन्तु वह साम्यवाद के साथ धर्म के सनातन सिद्धान्तों का बहिष्कार नहीं चाहता है। वह आध्यात्मवादी राष्ट्र भक्त है। भारत की लाल भवानी परतन्त्रता की शिला के नीचे दबी हुई थी। समता के अभिमानी को दासता का दुर्ग तोड़ना होगा—और तभी उसे साम्यवादी कहा जा सकता है—

दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी
जो तोड़े यह दुर्ग वही है समता का अभिमानी।

कवि को यह तनिक पसन्द नहीं कि अपने घर को जलता छोड़कर हम रूस में लगी आग बुझाने जाएँ और विश्व के नाम पर सदा के लिये अपने देश को परतन्त्र बनाये रखें—

चिल्लाते हैं 'विश्व-विश्व' कह जहाँ चतुर विज्ञानी,
बुद्धि भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।

जहाँ मास्को के रणधीरों के गुण गाये जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त नीर को देख लोग सकुचाते। (पृ० ६१)

सन् '४२ की जनक्रान्ति का भारतीय साम्यवादियों ने समर्थन नहीं किया था। अतः कवि की उपर्युक्त आलोचना को समय ने सही-प्रमाणित कर दिया है।

## धूप और धुआं

यह ग्रन्थ सन् '४७ से '५१ तक की रचनाओं का संकलन है। इसकी 'व्यष्टि', 'पंचतिक्त', 'जनतन्त्र का जन्म' तथा लोहे के पेड़ हरे होंगे शीर्षक कविताएँ उल्लेखनीय हैं। 'व्यष्टि' में साम्यवादियों की आलोचना की गई है।जो सम्यक् नहीं कही जा सकती। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

तुम कहते हो, आदमी नहीं यों मानेगा,
खूँटे से बांधो इसे और रिरियाने दो;
सीधे मन से यह पाठ नहीं जो सीख सका,
लाठी से थोड़ी देर हमें सिखलाने दो।
"हम कहते हैं, आदमी तभी सीधा होगा,
जब ऊँचाई पर पहुँच स्वयं वह जायेगा;
यों सदी दो सदी तक खूँटे से बांध रखो,
जंजीरें ढीली हुई कि वह फिर भागेगा। (पृ० ८२)

लोग कहते हैं व्यक्ति को सही रास्ते पर लाने के लिये उसे खूँटे से बाँधकर रखना होगा। यदि वह आदेश का पालन नहीं करे तो लाठी से पीट-पीट कर उसे ठीक करना होगा।

किन्तु इसके विपरीत गाँधीवाद से प्रभावित कवि कहता है कि आदमी धीरे-धीरे स्वयं ऊँचाई पर पहुँच जायेगा। खूँटे से बाँध रखना तो व्यर्थ है। ज्यों ही वह खूँटे से मुक्त होगा, सारी शिक्षा-दीक्षा भूलकर पुराना रास्ता पकड़ लेगा।

कवि जनता की शक्ति को समझता है। वह जनता को दुधमुँही समझ कर उसके भाग्य के साथ खिलवाड़ करने वाले को सचेत करते हुए लिखता है—

मानो जनता हो फूल जिससे एहसास नहीं,
जब चाहो तभी उतार सजा लो दोनों में;
अथवा कोई दुधमुँही जिसे बहलाने के
जन्तर-मन्तर सीमित हों चार खिलौनों में।

लेकिन होता भूडोल, बवंडर उठते हैं,
जनता जब कोपाकुल हो भृकुटि चढ़ाती है
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है। (पृ० ५५)

'लोहे के पेड़ हरे होंगे' में प्रेम और करुणा के प्रति आस्था व्यक्त की गई है और आत्मा के मंथन पर नवीन युग-सृष्टि का स्वप्न संजोया गया है। विज्ञान और बुद्धि पर पनपने वाली पश्चिमी भौतिकवादी सभ्यता के स्थान पर कवि हृदय के अमृत से अभिसिंचित नवीन सभ्यता की स्थापना चाहता है—

आदर्शों से आदर्श भिड़े,
प्रज्ञा प्रज्ञा पर टूट रही,
प्रतिमा प्रतिमा से लड़ती है,
धरती की किस्मत फूट रही।

आवर्तों का है विषम जाल,
निरुपाय बुद्धि चकराती है,
विज्ञान यान पर चढ़ी हुई,
सभ्यता डूबने जाती है।

जब-जब मस्तिष्क जयी होता,
संसार ज्ञान से जलता है,
शीतलता की है राह हृदय,
तू यह संवाद सुनाता चल। (पृष्ठ ८४)

'लोहे के पेड़ हरे होंगे' शीर्षक कविता के माध्यम से कवि ने अपने विशुद्ध दृष्टिकोण के बल पर कलाकारों को दिशा-बोध कराने का प्रयास किया है। मैं शिवदान सिंह चौहान के उद्धरण के साथ अपना वक्तव्य समाप्त करना चाहूँगा कि "दिनकर के आत्म-मन्थन में उनकी सामाजिक भावना ही विजयी होती आई है, और इसने उनकी अभिव्यक्ति में ऐसा प्रखर आवेग और प्रवाह पैदा किया है जो अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। जीवन के वर्तमान दैन्य और कुरूपता के प्रति विद्रोह की भावना को तीव्र अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने नये विराट् प्रतीकों, लाक्षणिकता प्रधान वक्र-भंगिमा और भाषण-कला में प्रयुक्त होने वाली अतिशयोक्ति-पूर्ण भाषा का प्रयोग किया।

"इस प्रकार अपने मन की उमंगों और लालसाओं से संघर्ष करते और

कल्याण की कामना करते हुए 'दिनकर' ने हिन्दी की प्रगतिशील कविता को वर्तमान जीवन की कठोर यथार्थ-चेतना का आधार दिया।" (हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—शिवदान सिंह, चौहान पृष्ठ १२७-१२८)।

## रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' को प्रेम में आवेग का कवि कहा गया है। उनकी कविता में रूप और यौवन के प्रति लुब्ध हृदय की कामातुर पुकार की अभिव्यक्ति मिली है। नारी के प्रति सहज आसक्ति को स्वाभाविक ढंग से व्यक्त करने वाले कवियों में अंचल जी का स्थान प्रथम ही माना जाएगा।

सन् १९५० तक अंचल जी के प्रकाशित काव्य-ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. मधूलिका (१९३८);
२. अपराजिता (१९३९);
३. किरण बेला (१९४१);
४. करील (१९४२);
५. लाल चूनर (१९४४)

'मधूलिका' और 'अपराजिता' में जीवन और क्रान्ति के कुछ लक्षण मात्र परिलक्षित होते हैं, इनका प्रधान स्वर प्रेम ही है। 'अपराजिता' तो पूर्णतः विरह-काव्य ही है। इसकी भूमिका में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"सम्प्रति एक विद्रोह छायावाद की सूक्ष्म आध्यात्मिकता, अशरीरी सौंदर्य-कल्पना और भावातिरेक के विरुद्ध उठ रहा है जिसके उन्नायकों में 'अंचल' एक प्रमुख है। इसका यथार्थ स्वरूप अभी स्पष्ट नहीं हो सका है, यद्यपि इसे वस्तुवाद, मार्क्सवाद, हँसिया-हथौड़ावाद, रोटीवाद, प्रगतिशील साहित्य आदि बहुत से नाम दिये जाते हैं।" आगे वे लिखते हैं—"दुःख और विषाद की पृष्ठभूमि पर ये तृष्णा, लालसा और प्यास और भी खिलती हैं। मैं कह चुका हूँ कि 'अंचल' मुख्यतः विनष्ट सौंदर्य की विपण्ण स्मृतियों का गायक है।"

मधूलिका की एक बेबस औरत का यह चित्र द्रष्टव्य है जो अस्मत का सौदा करने के लिए विवश हो गई है—

चुक जाते अंगों के मोती घुस जाता जब दलित शरीर,
सहसा अनाहूत आ जाता कौन उदर में लेकर नीर;
किन्तु कहाँ वह उदर भरा रह पाता है सुख से दो दिन,
पीसा करते हैं पिशाच दे रोटी के टुकड़े गिन-गिन,

माता बनी, दूध भर आयीं किन्तु न भरता पापी पेट,
जननी बनकर भी पशुओं के आगे नग्न सकेगी लेट।

शोषण-दोहन की शिकार माता का यह नग्न यथार्थ हमारे हृदय में समाज के पूंजीवादी तंत्र के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करने में पूर्ण सक्षम है।

'किरण वेला' में कवि का प्रगतिशील दृष्टिकोण पुरुष-मात्र को 'नारी का शोषक' संज्ञा से अभिहित करता है। दोनों के तुलनात्मक रूप देखे जाएँ—

एक खड़ा उल्लास लुटाता, एक जमा करती निज पीड़ा।
गूंगी और भरी आँखों से देख रही मानव की क्रीड़ा।
पशुता के कीड़े-सा वह, चीत्कार भरी चिर दोहित नारी।
पंख कटे जिसके प्राणों के मूक-रुदन सदियों से जारी।
पति की काम-तृप्ति की नाली बच्चे जनना जिसका सम्बल।
स्वाद बना नियति न जिसको क्रीत विवश चिर शोषित प्रतिपल॥
(पृष्ठ १२५)

ईश्वर और धर्म के विरुद्ध प्रगतिवाद ने आवाज उठाई थी। अंचल जी ने भी अमीरों के हितकारी भगवान का घृणा की धूलि से सत्कार किया है—

आज भी जन जन जिसे करबद्ध होकर याद करते;
नाम ले जिसका गुनाहों के लिए फरियाद करते;
किन्तु मैं उसका घृणा की धूल से सत्कार करता;
आज मैं विद्रोहवश विद्रोह की हुंकार भरता। (पृष्ठ १४)

धर्म की प्रगति विरोधी, क्रान्तिविरोधी गतिविधि को चुनौती देते हुए धर्म-धर्म कहकर चिल्लाने वालों को भी कवि ने अच्छी फटकार बतलाई है—

यह कौन खड़ा सन्नाटे में हिन्दू-हित की आवाज लिए।
वह कौन खड़ा निज धर्म लिए निज नंगेपन की लाज लिए।
'मजहब-मजहब' चिल्ला कर रोकेगा यह कौन पुरातन शव।
किसको बाँहों में ताकत जो रुद्ध करे तूफानी विप्लव। (पृष्ठ १८)

मानवता को रूढ़िवादिता, आर्थिक वैषम्य तथा पूँजीवाद के फौलादी पंजे से मुक्त करने के लिए आतुर हृदय कवि ने विप्लव का नारा बुलन्द किया था—

जीवन का बलिदान चढ़ाने
खड़े मुंतजिर हम दीवाने।

महाध्वंस के अग्रदूत हम,
आज बढ़े विप्लव धधकाने।

'करील' में कवि की समाजवादी चेतना अधिक मुखर है। क्रान्ति को कवि की प्रेमिका भी नहीं भूलती; रात में तो वह प्रेमी के कंधे से कंधा मिला छाती से छाती सटा सोई थी किन्तु दिन में आवश्यकतानुसार, अखण्ड युद्ध की करालिका बन जाती है—

कंधे से कंधा मिला छाती से छाती सटा
रात को बनी थी तुम गीली और रंगीली,
किन्तु दिन में बनी अखंड युद्ध की करालिका।[1]

'लाल चूनर' में प्रेमी भी अपनी प्रेमिका से मधुर स्मृतियों के बदले क्रान्ति चेतना की आग चाहता है। मदिरा से लबालब प्याली अब उसे स्वीकार नहीं—

चाहता मैं एक नूतन देश का संवाद तुम से,
चाहता मैं अब न बीती प्रियतमा की याद तुम से,
चाहता मैं आज जलती आग, केवल आग तुम से,
चाहता मैं अब न प्याली में सुरा का झाग तुम से। (पृष्ठ २६)

वह आशा करता है कि प्रियतमा को देखकर सेज की गुलाबी सुधि नहीं सतायेगी और वे दोनों युद्धभूमि में छाती फुलाये मस्तक ताने हुए बढ़ते रहेंगे—

देखकर तुमको बिछौने की गुलाबी सुधि न आये,
युद्ध में बढ़ते चलें छाती फुला मस्तक उठाये॥ (पृ० २६)

साम्राज्यवादियों के खिलाफ पूरे हिन्दुस्तान को जगाकर सावधान करते हुए कवि ने लिखा है—

वतन को घेरती आती
भयंकर आपदा काली
न जाये युद्ध की कोई
घड़ी इस बार फिर खाली।
लड़ाई आज जनता की
उन्हीं से जो बड़े आली;
जिन्होंने पीढ़ियों से रक्त—
शोषण की प्रथा पाली। (जनगीत, पृ० ४८)

1. Influence of Political Movement in Hindi Literature, पृ० १८२।

हमारी कितनी पीढ़ियों का लहू पीने वाले फिरंगियों से हमें निर्णायक युद्ध करना ही पड़ेगा।

जापान से सहायता लेकर देश को आजाद करने के उद्देश्य से नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने पूर्वी सीमा पर चढ़ाई की थी। किन्तु साम्राजी साजिश को ध्यान में रखते हुए अंचल जी ने भी साम्यवादियो के विचार से प्रभावित होकर जापानियों के विरुद्ध लिखा था—

पड़ी शमशीर दुल्हन सी
छिपा क्यो म्यान मे सायो ?
तुम्हारे देश की सरहद
घिरी है आज चोरो से
बहन कहती, व-चाओ
लाज जापानी लुटेरों से;
बचानी जान जनता की
तुम्हे इन्सान खोरो से। (लाल चूनर, पृ० ५०)

समाजवाद की स्थापना के लिये सर्वप्रथम जनता में राजनैतिक चेतना जगाना आवश्यक है। जब तक सर्वहारा वर्ग को यह एहसास नही होगा कि अमीर कभी उसका हित-साधन नही कर सकते, क्रान्ति की आग भड़क नही सकती। वर्ग-चेतना को युग की प्रबल चुनौती मानते हुए कवि ने घोषणा की—

मैं कहता हूँ—वर्ग-चेतना
युग की प्रबल चुनौती है
युग युग के विकास की
विश्वासो की रकी मनौती है

सामाजिक तथा आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिये 'लाल-चूनर' का कवि जनता के सहस्र धारा जीवन को महत्प्रधार प्रेरणाएँ प्रदान करना चाहता है उसकी यह आतुरता पुस्तक की भूमिका में तो व्यक्त हुई ही है उसकी कविताएँ भी इसी उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ी हैं और सफल भी रही।

अंचल जी के सम्बन्ध में प्रो० क्षेम ने उद्‌गार व्यक्त करते हुए लिखा है 'मेरा अपना विश्वास है कि 'अंचल' की क्रान्ति मूलतः पार्थिव नही, भागवत है; सैद्धान्तिक नही, रोमानी है। इसी से यह विश्वास भी निरन्तर दृढ़ होता जा रहा है कि 'अंचल' प्रगति के नारो के लिये नही, भावात्मक उद्‌गारों के लिये ही भविष्य में स्मरण किये जायेंगे और उनका वास्तविक कृतित्व रोमांचक कृतियों में ही निहित है।'

लेकिन मैं समझता हूँ कि अंचल जी प्रगतिवादी नारों के लिये भी याद किये जायेंगे ! इसका मूल कारण कवि के हृदय की सच्चाई का योगदान है जो सर्वहारा वर्ग के हितचिन्तन में उपयुक्त होकर अभिव्यक्ति को सबलता प्रदान कर सका। 'कविता और कविता' में आधुनिक कविता पर अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए इन्द्रनाथ मदान ने इन्हें छाया बोध से ही प्रेरित प्रमाणित किया है। वे लिखते हैं.........."दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, सुमन, अंचल आदि की कविता को छायावादी बोध से प्रेरित मानना अधिक संगत जान पड़ता है।"[1] इस बात से सहमति प्रकट करने में किसी को हिचक नहीं होगी, किन्तु विषयवस्तु और अभिव्यक्ति की नवीनता इन्हें प्रगतिवाद से भी सम्बद्ध करती है यह मानना पड़ेगा।

## द्वितीय वर्ग

### नागार्जुन

सभी प्रगतिवादी कवियों में अकेले नागार्जुन ही ऐसे कलाकार हैं जिन्होंने प्रगतिवादी जीवन-दृष्टि को आत्मसात किया है और कभी भी अपनी कविता पर स्वच्छन्दतावाद को हावी नहीं होने दिया। उन्होंने प्रेम-व्यापार को धनवानों का मनोरंजन कहा है। भला गरीबों को इतना अवकाश कहाँ कि वह उदर-चिन्ता से मुक्त होकर रागरंग उड़ाया करे ?—

बन्धु, मेरे पास भी यदि
बाप-दादों की उपार्जित भूमि होती
धान होता बखारों में
आम कटहल लीचियों के बाग होते
पोखरा होता मछलियों से भरा
फिर क्या न मैं भी
याद कर प्रथमा, द्वितीया या तृतीया [प्रेयसी] को
सात छेदों की रूपहली बाँसुरी में फूंक भरता
वैष्णवों की विरहिणी वृषभानुजा के नाम पर ही, सही,
फिर भी फूंक भरता.........
× × ×
किंतु यह सब,
असंभव था यहाँ मेरे हेतु

1. कविता और कविता—सं० इन्द्रनाथ मदान, पृ० १७।

इसी से तो भाग आता इधर ही है मित्र बारम्बार
कलम घिस कर कमा लेता रोज पैसे चार
इस तरह के और भी हैं लोग ।[1]

किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि कवि ने कभी प्रेम की ओर दृष्टि डाली ही नहीं, जो प्रेम व्यावहारिक एवं स्वस्थ है, जो प्रेरणादायक है वह निरन्तर उसको अभिभूत करता है। पेट की भूख और प्रतिकूल परिस्थितियाँ बेबस इन्सान को अपनी विवाहिता प्रिया से विमुक्त कर देती है तो उसका वह नीरस एकाकीपन सिन्दूर तिलकित पत्नी के भाल के स्मृति लोक में उभर आने से ही रसमय हो उठता है—

घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल,
याद आता तुम्हारा सिन्दूर-तिलकित भाल,
कौन है वह व्यक्ति जिसको चाहिए न समाज ?
कौन है वह एक जिसको नहीं पड़ता दूसरे से काज ?
चाहिए किसको नहीं सहयोग ?-
चाहिए किसको नहीं सहवास ?
कौन चाहेगा कि उसका शून्य में टकराये यह-उच्छ्वास ?
हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण। (सतरंगे पंखों वाली, पृ० ४६)

श्री नागार्जुन की इन्हीं विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए श्री इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है कि "नागार्जुन ने प्रगतिवादी जीवन-दृष्टि को सहज रूप में आत्मसात किया हुआ है। वह संवेदना के स्तर पर इसे अपने व्यंग्य-काव्य में अभिव्यक्ति देते हैं।"[2]

श्री नागार्जुन सन् १९३० के आसपास से ही कविता लिख रहे हैं किन्तु पैसे के अभाव में वे छपा नहीं सके थे। उनकी प्रथम कृति 'युगधारा' का प्रकाशन सन् १९५६ में संभव हुआ। यह ध्यातव्य है कि पंत की 'युगवाणी' और केदारनाथ की 'युग की गंगा' के साथ ही श्री नागार्जुन की 'युगधारा' प्रगतिवाद की महत्वपूर्ण रचना गिनी जाती है। इसकी प्रायःसभी कविताएँ सामाजिक धरातल की उपज हैं। उसके वैयक्तिक रूपचित्र में सर्वहारा वर्ग की दयनीय स्थिति का ही बोध होता है। प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

१. एक मित्र को पत्र—हंस (अगस्त, १९४३), पृष्ठ ८८।
२. कविता और कविता—संपादक इन्द्रनाथ मदान, पृ० २१।

पैदा हुआ था मैं—
दीन हीन अपठित किसी कृषक कुल में—
आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से
कवि मैं रूपक हूँ दबी हुई दूब का
जीवन गुजारता प्रतिपल संघर्ष में।
मेरा क्षुद्र व्यक्ति
रुद्ध है, सीमित है—
आटा, दाल, नमक, लकड़ी के जुगाड़ में।
पत्नी और पुत्र में। (पृष्ठ १२)

नागार्जुन व्यंग्यप्रधान रचना लिखने में सिद्धहस्त हैं। इन्होंने अपनी व्यंग्य-सृष्टि से प्रगतिवाद को व्यंग्य प्राधान्य की विशिष्टता प्रदान की है। 'प्रेत का बयान' सुनिये—

ओ रे प्रेत—
कड़क कर बोले नरक के मालिक यमराज
सच सच बतला
कैसे मरा तू
भूख से अकाल से
× × ×
सुनिए महाराज
तनिक भी पीर नहीं
दुख नहीं, दुविधा नहीं
सरलतापूर्वक निकले थे प्राण
सह न सकी आंत पेचिश का हमला।

उपर्युक्त उद्धरण से इन्द्रनाथ मदान की श्री नागार्जुन के संबंध में इस धारणा की भी पुष्टि होती है कि 'वह अपनी अनुभूतियों को प्रायः कथात्मक अभिव्यक्ति देते हैं।'

महात्मा गाँधी युगपुरुष बनकर अवतरित हुए थे। उन्हें सम्पूर्ण राष्ट्र का प्यार मिला था। जब उनकी मृत्यु हुई तो पूरी दुनिया में मातम छा गया था। यद्यपि श्री नागार्जुन साम्यवादी साहित्यकार थे, फिर भी पूज्य बापू के प्रति उनमें किसी से कम श्रद्धा नहीं थी। बापू सम्प्रदायवाद के शिकार बने थे। कवि सम्प्रदायवादियों पर अपना प्रबल आक्रोश व्यक्त करते हुए लिखता है—

हाँ बापू ! मैं निष्ठापूर्वक आज शपथ लेता हूँ
सम्प्रदायवादी दैत्यों के विकट खोह जब तक खँडहर न बनेंगे
तब तक मैं इनके खिलाफ लिखता जाऊँगा। (युगधारा, पृ० ५८)

नागार्जुन की दूसरी कृति 'सतरंगे पंखों वाली' है। इसमें शिल्प और कला अधिक परिष्कृत हैं। भावना का प्रवाह समाजवाद का अतिक्रमण नहीं करता, यद्यपि वैयक्तिक मनोभावों को भी अभिव्यक्ति मिली है।

नागार्जुन की रचनाओं में देहाती मिट्टी की सोंधी गंध और ग्रामीण जीवन का सहज भोलापन उपलब्ध है। जन-जीवन के दुःख-दर्द को कवि ने सफलतापूर्वक व्यक्त किया है। 'देखना ओ गंगा मैया', 'खुरदुरे पैर' आदि कविताएँ सामाजिक और आर्थिक वैषम्य को चित्रित करती हैं। पानी में पैसे खोजने वाले मल्लाह के लड़कों को देखिए—

मल्लाहों के नंग धड़ंग छोकरे
दो दो पैर
हाथ दो दो
प्रवाह में खिसकती रेत की ले रहे टोह
बहुधा-अविरत चतुर्भुज नारायण ओह
खोज रहे पानी में जाने कौस्तुभ मणि (पृ० १६)

रिक्शा खींचने वाले के 'खुरदुरे पैर' का भी दर्शन कर लें—

धँस गए
कुसुम कोमल मन में
गुट्ठल घुटने वाले कुलिश कठोर पैर
दे रहे थे गति
खंड-विहीन ठूठ पैडलों को
चला रहे थे
एक नहीं, दो नहीं, तीन तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को
नाप रहे थे धरती का अनहद फासला
घंटों के हिसाब से ढोए जा रहे थे (पृ० २१)

कवि की तीसरी कृति 'प्यासी पथराई आँखें' है जिसमें तीखे व्यंग्य और सामाजिक प्राकृतिक चित्र मिलते हैं। उपेक्षित तथा पीड़ित समुदाय के प्रति गहरी

सहानुभूति भी प्रदर्शित हुई है। 'आदम तबेला' में मध्यवर्गीय परिवार के नागरिक जीवन का दयनीय चित्र उभारा गया है। दो-चार पंक्तियाँ देखिए—

ऊपर देखते हैं बाल्टियों के ढेर
पितरों की प्याली रहे।
अंगूठा चूसती है नवजात बच्ची
खिड़की से लटका दिया गया है लाल खिलौना (पृ० १८)

ठेला खींचने वाले कुली-मजदूरों को भी कवि ने निकट से देखा है। वे बेचारे अथक श्रम करते-करते थक कर जहाँ-तहाँ सो जाते हैं और सपने में भी ठेले-गाड़ी के आने-जाने से धरती की धड़कती छाती की धड़कन सुनते रहते हैं—

कुली मजदूर हैं
बोझ ढोते हैं खींचते हैं ठेला
धूल धुँआ-भाप से पड़ता है साबका
थके मांदे जहाँ तहाँ हो जाते हैं ढेर
सपने में भी सुनते हैं धरती की धड़कन (पृ० २१)

जब रानी एलिजाबेथ भारत आई थी तो सरकार की ओर से पानी की तरह रुपए बहाए गये थे। उस रानी पर और साथ सरकार पर व्यंग्य करते हुए कवि लिखता है—

बीत गई सर्दी बीत गया माघ
रानी के खसम ने मारा है बाघ
खुद तो बेचारी को दिखी नहीं एक भी बिल्ली
सवाई माधोपुर से सीधे आ गई नई दिल्ली
टके की मुस्कान करोड़ों का खर्चा
इस तामझाम की कहाँ नहीं है चर्चा (पृ० ६०)

तो इन कतिपय उद्धरणों से कवि के हृदय की सचाई, भावधार, चिंतन पक्ष तथा काव्य-शिल्प-गत विशिष्टता का आभास अवश्य मिल गया होगा। श्री नागार्जुन पक्के जनवादी हैं। उनमें राष्ट्रीयता की भी कमी नहीं। उनकी कविता का सामाजिक पक्ष बड़ा सबल रहा है। उनके व्यंग्य के तीर बड़े घातक होते हैं किंतु व्यंग्य बहुत खुला रहने से कलापक्ष कुछ दुर्बल हो गया है। सामयिकता के आग्रह ने भी कवि के व्यक्तित्व को क्षति पहुँचाई है।

## त्रिलोचन शास्त्री

कवि त्रिलोचन शास्त्री का नाम प्रगतिवाद के अक्षुण्ण व्यक्तित्व वाले कवियों

में लिया जाता है। उनमें समय की गति परखने की प्रखर प्रतिभा है। वे भारतवर्ष की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं के जानकार हैं और संस्कृत के प्रकांड विद्वान भी हैं। इसके अतिरिक्त वे अंग्रेजी, लेटिन, फ्रेन्च और ग्रीक भी जानते हैं। कृत्रिमता तथा दिखावटीपन के युग में भी उन्हें अहंकार छू तक नहीं गया है; मनुष्यता का ऐसा खुला मिल शायद ही मिले।

श्री त्रिलोचन की प्रथम कृति 'धरती' है जिसमें उनकी प्रारम्भिक कविताएँ संकलित हैं। इस पुस्तक के शिल्प में छायावादी प्रभाव भी देखा जा सकता है। इसकी भावभूमि जीवन के मार्मिक पार्श्वों की अनुभूतिपूर्ण व्यंजना से प्रशस्त है। मौलिक ढंग से विचारने का प्रयास भी कवि ने किया है जिससे इस कृति का महत्व बढ़ गया है।

कवि की प्रेम-संबंधी रचनाओं में वेदना, निराशा और लडकपन की चर्चा नहीं मिलती; क्योंकि वे प्रणय-कविताएँ किसी दुर्लभ प्रेमिका के लिए न लिखी जाकर दाम्पत्य प्रेम से ही सम्बन्धित रही हैं। पत्नी ही उनके जीवन की उत्प्रेरिका शक्ति है जो उनके जीवन को सरसता प्रदान कर सामाजिक जीवन की ओर उन्मुख करती है—

मुझे जगत जीवन का प्रेमी,
बना रहा है प्यार तुम्हारा
मेरी दुर्बलता को हरकर
नयी शक्ति नव साहस भरकर
तुमने फिर उत्साह दिलाया
कर्मक्षेत्र में बढ़ू संभलकर
तबसे मैं अविरल बढ़ता हूँ
बल देता है प्यार तुम्हारा (धरती, पृ० १)

कवि के प्रेम में पवित्रता की हवन-गंध है। इन पंक्तियों को देखिए—

वे हरे खेत
हैं याद तुम्हें ?
धीरे-धीरे अंकुर आये
फिर और बढ़े
हमने तुमने मिलकर सींचा। (पृ० २०)

प्रगतिवाद समाज को अधिक महत्व देता है। कवि त्रिलोचन ने भी इसके

महत्व को प्रतिष्ठित किया है और उसी व्यक्ति को अच्छा माना है जो समाज की एक शक्ति बनकर क्रियाशील रहता है—

जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एकशः शक्ति हो
जैसे सरिता की अगणित लहरों में
कोई एक लहर हो
तो अच्छा हो (पृ० ७८)

साम्राज्यवादी और पूंजीवादी व्यवस्था मे मनुष्य का कोई महत्व नही रह जाता, उसका अवमूल्यन हो जाता है; जो भी प्रहार मनुष्य पर पड़ता है उसे चुपचाप सह लेना पड़ता है—

इन दिनों मनुष्य का महत्व कोई नही है
मूल्य गिर गया है अब मनुष्य का
सिन्धु में बिन्दु का जो स्थान है
वह भी स्थान नहीं है मनुष्य का
ऐसा क्यों
पूंजीवाद का इतिहास कहता है
साम्राज्यवाद घोषित करता है
कुल का अभिमान और सुख-संग्रह
करने का वैयक्तिक उत्साह इसका उत्तेजक है
कोई संबंध-मर्म कहीं नही
अलग-अलग सब अपने सुख-दुःख मे बहते हैं
और जो प्रहार उन पर होते हैं सहते हैं। (पृ० ८४)

कविता की भाषा यहां बिलकुल गद्य की भाषा लगती है और यही श्री त्रिलोचन की अपनी विशिष्टता है जो सहजता के साथ यथार्थबोध कराती चलती है। हां, तो परतन्त्रता तथा पूंजीवादी जाल-फांस को छिन्न-भिन्न करने के लिए विद्रोह की आवश्यकता होती है, अस्तु, कवि देशवासियो को ललकारते हुए संघर्ष के लिए आह्वान करता है—

तुम बढ़ो जिस तरह दीप्ति ज्वाल
कर दग्ध रूढ़ि का अन्तराल
साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, और व्यक्तिवाद
जो बांध रहे गति जीवन की कर उन्हें नष्ट

तुम सामाजिक स्वातंत्र्य-साम्य को करो स्पष्ट
होवें स्वतन्त्र नारी नर
हो सामंजस्य अमलतर (पृ० ६-७)

कवि ने प्रकृति के प्रति अपने प्रेम को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। जब वह बरसाती हवा में महमहाती मेंहदी को देखता है तो उसका जी करता है कि सारी खुशबू को वह अंजलि में भर-भर कर पी जाए—

वर्षा-सीकर भरी हवा, मेंहदी की मह मंह
जी करता है मैं अंजलि भर भर पी जाऊँ (पृ० ८१)

कवि की दूसरी कृति 'दिगंत' है जिसमें केवल सानेट ही संकलित हैं। सानेट मे प्रायः वैयक्तिक भाव-भंगिमाओं की ही अभिव्यक्ति हो पाती है, इसके प्रधान विषय प्रेम तथा सूक्ष्म मनोभाव रहते है। लेकिन अन्य विषयो को भी कवियों द्वारा सानेट में प्रतिष्ठा मिली है और इसके प्रमाण में श्री त्रिलोचन के व्यंग्य-प्रधान तथा प्रशस्ति में लिखे गये सानेट उद्धृत किये जा सकते हैं। 'रोटी' पर लिखते हुए कवि ने 'एक हजार आठ स्वामी' पर अच्छी चुटकी ली है—

एक हजार आठ स्वामी······जी ने डकार ली,
हाथ पेट पर फेरा, बोले, अधिक खा गया,
मर्यादा पुरुषोत्तम प्रभु का ध्यान आ गया। (पृ० १८)

जिनका पेट दूसरे दस के कौर हजम कर ऊँचा होता है भला वे प्रभु का ध्यान न करेंगे तो और कौन करेगा ? बेचारे गरीबो को तो पेट के आगे बार-बार हार ही खानी पड़ती है, कवि के 'अवतरिया' को ही देखिये—

प्रेम जागता जीवन यों तो दे जाता है,
मगर पेट के आगे वही हार खाता है, (पृ० २५)

सन् ५४ में चीन के साथ हमारा संबंध अच्छा था और माओ-त्से-तुंग हमारे लिए बड़े पूज्य थे। उसी वर्ष कवि ने उनकी प्रशस्ति गाई थी—

तुम थे माओ, जीवन के सौ अंकुर फूटे,
बन्धन टूटे, दलितों ने गौरवधन लूटे (पृ० ६०)

कवि की तीसरी कृति 'गुलाब और बुलबुल' के माध्यम से रुबाई और गजल की आत्मा हिन्दी में प्रतिष्ठित हो गई है। इस सफलता को देखकर बहुत उर्दू शायर भी तरस खाएँगे। एक विशेषता यह भी है कि रुबाइयों में प्यार-मुहब्बत की बात बहुत कम की गई है और दूसरे ढंग की ऐसी बातें हुई हैं जो बहुत सूक्ष्म और निगूढ़ सत्य को उद्घाटित करने वाली हैं। एक रुबाई देखिए—

जानकर तू फिजूल रोता है
और मुँह आँसुओं से धोता है
जिन्दगी है यह कोई खेल नहीं
खेल भी खेल नहीं होता है (पृ० २)

जब खेल भी खेल नहीं होता है तो जिन्दगी कैसे खेल हो सकती है ? प्यार पर अस्तित्व खोने की बात बहुत की जाती है, किन्तु असलियत तो यही है कि हम-आप अपनी ही इच्छा-आशा की प्रखर धार में बहते रहते हैं। कवि लिखता है—

प्यार किस चीज को कहते हैं लोग
क्या इसी दुनिया में रहते हैं लोग
कभी इच्छा है कभी आशा है
तेज धारा है और बहते हैं लोग (पृ० ३)

कवि में राष्ट्रीयता की भी कमी नहीं है। वह अपने भारत के प्रति अभिमान-पूर्ण भावना की घोषणा करता है—

मुझे अभिमान है तो भारत का
सर्वदा ध्यान है तो भारत का
आदमी रूप वह यहाँ पाये
जिसमें सम्मान है तो भारत का (पृ० १६)

सामयिक घटनाओं पर भी कवि का ध्यान गया है। इधर यह सिलसिला चल पड़ा है कि कहीं गोली चली तो लोग अदालती जाँच की माँग करते हैं और जाँच भी हो लेती है। सरकार अपराधी अफसर को स्थानान्तरित भर कर देती है उसे दंडित नहीं किया जाता। यह कैसा न्याय हुआ ? इससे संबंधित एक रुबाई देखिये—

वह जो इन्दौर में चली गोली
जहाँ उसकी अदालती हो ली
बदली कर दी वहाँ जो अफसर थे
न्याय की क्या नई प्रथा खोली (पृ० २२)

त्रिलोचन की कविताओं के यहाँ जितने उद्धरण दिये गए हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि कवि ने यथार्थ के सौंदर्य को जिस खूबी से अभिव्यक्ति प्रदान की है, अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो। अफसोस है, कवि का सही मूल्यांकन लोग नहीं कर सके हैं। सच पूछा जाए तो प्रगतिवाद का अखंडित व्यक्तित्व कवि त्रिलोचन ही

हो सकता है। इनकी हजारो रूबाइयाँ और सानेट अभी-भी अप्रकाशित हैं। इनकी भाषा में प्रसाद गुण का सौंदर्य है जिससे अनुभूतियाँ हृदय को सरलता से छू लेती हैं।

## केदारनाथ अग्रवाल

केदारनाथ अग्रवाल ने मजदूर और किसान के जीवन को निकट से देखा है और उनके बीच जीवन जिया है। इसलिए इनकी कविताओ मे सहज स्वाभाविक भावुकता और सच्ची अनुभूति के दर्शन होते हैं। काव्य के क्षेत्र मे निराला से तथा सिद्धान्त की दृष्टि से ये मार्क्सवाद से प्रभावित रहे हैं। इनका कवि शृङ्गार के धरातल से उठकर, समाजवाद के सामाजिक यथार्थ की ऊबड़-खाबड़ जमीन की ओर बढा है।

अग्रवाल जी की प्रारम्भिक रचनाओं का संकलन 'नीद के बादल' हैं, जिसमें छावावाद का प्रभाव तथा रूमानी सौंदर्य देखे जा सकते हैं। इस रचना मे प्रेम का स्वर ही प्रधान है। वैयक्तिकता के विशेष आग्रह के चलते इसे प्रगतिवाद के अन्तर्गत परिगणित करना ठीक नही। किन्तु कवि के स्वस्थ मनोभाव, हृदय की सचाई एवं सादगी का तो परिचय इससे मिल ही जाता है और साथ ही कवि की जनवादी रूझान भी धुँधले रूप में प्रकट हो गयी है। इस कृति से कुछ रूमानी पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

> तुम आओ तो, रस से पूरित अंगूरी तन देखूं,
> लाल गुलाब कपोलो के मैं रसमय चुम्बन देखूं,
> मेरा भाग्य उठाती ऊपर लज्जित चितवन देखूं,
> भर-भर लोचन देखूं प्यारी, भर भर लोचन देखूं (पृ० ४)

इस प्रकार के गीत भोगवाद की पुष्टि करने वाले है। किन्तु प्रेम की निश्छलता यहाँ भोगवाद की विकृतियो से कवि की रक्षा अवश्य कर रही है।

'युग की गंगा' कवि केदारनाथ अग्रवाल की सबसे महत्वपूर्ण प्रगतिवादी कृति है जिसमे समाजवादी भावनाओ, विचारो, वर्ग संघर्ष तथा सामाजिक अर्न्तविरोधो को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। भारतीय जन-जीवन की हलचल तथा प्राकृतिक परिवेश के प्रतिबिम्ब इस कृति को विशिष्टता प्रदान करते है। इनकी भाषा-शैली और शिल्प छायावादी नही, अपितु विषय-वस्तु के बदलने के साथ ही उसमें भी युगानुकूल परिवर्तन आ गया है।

शोषक समाज का जोक है। वह खा-पीकर इतना मोटा हो जाता है कि चल-फिर भी नही सकता। तो भी वह गरीब मजदूरो का शोषण करता ही रहता है, अपने

पैसे के माध्यम से उनके श्रम को लूटता चलता है। कवि श्री केदार नाथ अग्रवाल ने अपनी 'ढांगर' शीर्षक कविता में दोनों वर्गों के बीच फैली इस विषमता का अच्छा चित्र खींचा है—

ये काम चोर, आराम तलब
मोटे तोंदियल भारी भरकम
हट्टे कट्टे सब ढांगर ऊंघा करते हैं,
हम चौबिस घंटे हँफते हैं।
है भूख बड़ी लम्बी-चौड़ी
दस-बीस जनों का सब खाना
ये एक अकेले खाते है;
दिन भर ही पागुर करते हैं
हम भूखे ही रह जाते हैं। (युग की गंगा, पृ० ४)

इतना ही नही ये मोटे तोंदियल पूंजीपति देश को आजाद भी नही देखना चाहते, ये सभी अँग्रेजो के परम भक्त थे—

ये नीच-प्रकृति,
ये भ्रष्ट-बुद्धि
आजाद विचरने के दुश्मन
हट्टे कट्टे ढांगर उठकर आगे बढने से डरते हैं
हम आजादी को मरते हैं। (पृ० ४)

उन पूंजीपतियो के ऊँचे-ऊँचे महल तथा घाट, धर्मशालाएँ, अदालतें, विद्यालय, वेश्यालय, होटल, दफ्तर, बूचड़खाने, मन्दिर, मस्जिद, हाट, सिनेमा—ये सभी उन्ही गरीब मजदूरो के खून पसीने के बल पर खड़े हुए हैं, उन्ही के कंकालों के सहारे आज भी टिके हुए हैं—

घाट, धर्मशाला, अदालते
विद्यालय, वेश्यालय सारे,
होटल, दफ्तर, बूचड़खाने
मन्दिर, मस्जिद, हाट, सिनेमा,
श्रमजीवी की उस हड्डी से
टिके हुए हैं—जिस हड्डी को
साम्य आदमी के समाज ने
टेढ़ी करके मोड दिया है। (युग की गंगा, पृ० ३५)

बेईमान सभ्य समाज द्वारा श्रमजीवियों की हड्डी टेढी कर दिये जाने की चर्चा में कवि का आक्रोश द्रष्टव्य है।

कवि इस धरती का वास्तविक स्वामी श्रमजीवी किसान को मानता है जो अपना रक्त सुखाकर सोना उगाता है किन्तु स्वयं जिसका भाग्य शोपको के जुए पर लुट जाता है, संसार को खिलाता है—

यह धरती है उस किसान की
जो बैलों से कंधों पर,
बरसात घाम में
जुआ भाग्य का रख देता है
खून चाटती हुई वायु में (पृ० ४४)

गरीब स्त्री के दुःख-दैन्य को भी कवि ने अपनी कविता मे प्रतिबिंबित किया है। उसकी 'रनिया' कितनी दुखिया है?—

रनिया अब तक जन्मान्तर से ज्यों की त्यों पूरी भूखी है।
मैं जन्मान्तर से वैसा ही ज्यों का त्यों पूरा खाता हूँ॥
रनिया बिलकुल वही वही है चिरकुट ही चिरकुट पहने है।
मैं भी बिलकुल वही वही हूँ रेशम ही रेशम पहने हूँ॥
रनिया मेरी दुखी बहन है, वह निदाघ में मुरझ रही है।
मैं रनिया का सुखी बन्धु हूँ फिर वसन्त मे विहँस रहा हूँ॥ (पृ० ४०)

गुरबत की मारी एक दुखियारी की जिंदगी ही यही होती है कि उसे कभी भरपेट भोजन और नए बसन नसीब नही होते। और दूसरी ओर उसका जो बंधु पुरुष प्रारम्भ मे सुखी था आज भी वैसा ही सुखी जीवन जी रहा है। कवि ने इस वैषम्य को तुलना के माध्यम से उद्घाटित किया है।

केदारनाथ अग्रवाल का प्रकृति-चित्रण बड़ा जीवन्त और आकर्षक बन पड़ा है। कवि ने प्रकृति का उपयोग अपनी सामाजिक भावना को व्यक्त करने के लिए चित्राधार के रूप में भी किया है। कवि के गेहूँ को देखिये—

आर पार चौडे खेतों मे
चारो ओर दिशाएँ घेरे
लाखो की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खडा है।
ताकत की मुट्ठी बाँधे है,

नोकीले भाले ताने हैं।
हिम्मत वाली लाल फौज-सा
मर-मिटने को घूम रहा है। (पृ० १६)

गेहूँ के पौधे खेत में ऐसे खड़े हैं जैसे, कि दुश्मन से लोहा लेने के लिए लाल रूस की लाल सेना। यहाँ कवि ने क्रान्तिकारी चेतना और बल-पौरुष को उद्दीप्त करने के लिए प्राकृतिक छवि में अपनी भावना का तादात्म्य ढूँढा है।

सशस्त्र क्रान्ति के लिए कवि करुणा-अहिंसा की भावना को बड़ी बेरुखी से झिटकते हुए लिखता है—

काटो काटो करवी
साइत और कुसाइत क्या है?
जीवन से बढ़ साइत क्या है?
काटो काटो काटो करवी
मारो मारो मारो हँसिया
हिंसा और अहिंसा क्या है?
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है? (पृष्ठ ५६)

'लोक और आलोक' कवि की तीसरी कृति है, जिसमें कला और अनुभूति में प्रौढ़ता का दर्शन होता है, साथ ही कवि के स्वर में भी दृढ़ता आ गई है। जनवादी जागरुकता इसकी विशिष्टता कही जा सकती है।

किसान यद्यपि रूढ़िवादी और परम्परायुक्त विचारों का दास होता है, लेकिन कवि केदारनाथ अग्रवाल उसमें क्रान्ति की आशा व्यक्त करते हुए जागरूक होने का आग्रह करता है—

आजादी की हर तड़पन को
बारम्बार जिलाये जा
अपनी कुटिया की चिनगी से
सब में आग लगाये जा। (पृष्ठ ८३)

'हथौड़े का गीत' में कवि आर्थिक स्वतंत्रता के लिए पूँजीवादी बंधन को तोड़ने के लिए मजदूर-किसानों को ललकारता है—

मार हथौड़ा कर कर चोट
लोहू और पसीने से ही
बंधन की दीवारें तोड़। (लोक और आलोक, पृ० ४७)

पत्थर का भगवान गरीबों की सुध क्या लेगा ? उस पर क्रुद्ध होकर कवि थौड़ा चलाने को कहता है—

पत्थर के सिर पर दे मारो अपना लोहा
यह पत्थर जो राह रोक कर पड़ा हुआ है
जो न टूटने के घमंड मे अड़ा हुआ है। (पृ० ३६)

कवि निरीह जनमानस मे बैठा इस धारणा को भी निकाल फेंकना चाहता है क सबको रोटी देनेवाला भगवान राम है। रोटी तो उसे उसका अपना संघर्ष ही देला सकता है—

रोटी तुमको राम न देगा।
वेद तुम्हारा काम न देगा॥
जो रोटी के लिए लड़ेगा।
वह रोटी को आप वरेगा॥ (पृ० ४७)

कवि की चौथी कृति 'फूल नही रंग बोलते हैं' है और इसमे भी काव्य-चेतना का विस्तार तथा राष्ट्र-जीवन को प्रेरित करने वाली समाजवादी उमंगो के रंग देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार श्री केदारनाथ अग्रवाल मे उस अपूर्व कवित्व-शक्ति का दर्शन होता है जो लोक-जीवन की गहराइयों में उतर कर यथार्थ की मार्मिक छवियों के अंकन कर पाती है। उनकी कविताएँ सामाजिक यथार्थ के अनुभूतिपूर्ण चित्रो से सज्जित एवं आस्थापूर्ण स्वरो से प्राणवंत होती है। इन्ही विशिष्टताओं की ओर संकेत करते हुए श्री शिवकुमार मिश्र ने लिखा है—"केदार के कवि की क्षमताएँ भी त्रिलोचन से कम व्यापक और प्रशस्त नही रही। काव्यगत सवेदनाओ से शून्य आढतियो और सूदखोरों की बस्ती बाँदा में केवल वहाँ की प्रभर, जनता और मिट्टी की अपनी महक के बल पर अपनी मानवीय सवेदनाओं तथा कवित्व-शक्ति को जीवित रखते हुए इस कवि ने प्रगतिवादी जीवन-दर्शन का आलोक ग्रहण कर न केवल अपनी मनुष्यता तथा सजग कवि-चेतना का ही परिचय दिया है, अपनी उस प्रबुद्ध जीवन-दृष्टि का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है, जो सतह से परे लोक-जीवन की गहराइयो मे उतर कर वस्तुस्थिति से तादात्म्य करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करती है।"

## शिवमंगल सिंह 'सुमन'

श्री शिवमगल सिंह 'सुमन' की कृतियों में पूंजीवादी लूट-खसोट के प्रति क्षोभ है और उसमें साम्राज्यवादी अर्थ-व्यवस्था से प्रताडित हृदय की वेदना धडकती है।

इनका कवि क्रान्तिकारी रहा है और इन्होंने कभी-भी पूँजीवाद के आगे घुटने नहीं टेके। किन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बदले अध्यात्मवाद से ही प्रभावित रहे हैं।

'सुमन' की प्रारम्भिक रचनाओं में प्रणय-निवेदन और पिपासकुल हृदय की धड़कन व्यक्त हुई है। उनकी प्रथम कृति 'हिल्लोल' है, जिसमे अनुभूतियों के बहुरंगी रूप चित्रित हुए हैं। संयोग और वियोग दोनों दशाओं की मन:स्थितियों को कवि ने सफलतापूर्वक स्वर दिया है। प्रेम मे हताश मन की एक झाँकी द्रष्टव्य है—

जीवन में कितना सूनापन
पथ निर्जन है, एकाकी है।
उर में मिटने का आयोजन
सामने प्रलय की झाँकी है। (पृ० ८३)

कवि की दूसरी कृति 'जीवन के गान' है जिसका सन् १९४० में प्रकाशन हुआ था। इसमें कवि भावुकता के चन्द्रलोक से धरती पर उतर आया है तथा सामाजिक विकृतियों तथा आर्थिक विषमताओं को चित्रित करते हुए अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। भूमिका में स्वयं कवि ने लिखा है कि 'जीवन गान' में मैं जीवन-संघर्ष मे दलित वर्ग की विजय कामना कर दूर बैठा स्वागत की तैयारियाँ करनेवाला ही नही रहा हूँ। 'जीवन के गान' में मुझे इतनी चेतना और मिली कि मैं भी इस संघर्ष का एक अङ्ग हूँ और उसमे सक्रिय भाग लेने के लिए, उसका अभिन्न अङ्ग बनने के लिये मैं सजग हो उठा हूँ। (भूमिका—जीवन के गान-सुमन, पृ० १२)

इस पुस्तक मे उद्‌बोधनात्मक कविताओं की संख्या कम नही। 'यह तो विप्लव की बेला है' शीर्षक कविता में देश-भक्तों का आह्वान करते हुए कवि लिखता है—

आओ, उठो चलो जल्दी
समरांगण मे कुहराम मचाने
पीकर जिसका दूध खड़े हैं
उस माता की लाज बचाने। (पृ० ३२)

विद्रोह की भूमिका में कवि की दर्पोक्ति भी द्रष्टव्य है—

भस्मसात कर दूँगा क्षण में
ऊँच नीच के सब आडम्बर
काँप उठेगी निर्बल जगती
सिहर उठेगा सूना अम्बर। (पृ० १८)

'जीवन के गान' की 'पथ भूल न जाना पथिक कहीं' शीर्षक कविता सर्वाधिक लोकप्रिय हुई। आज भी देहात में नाचवाले अथवा गवैया इसे गाते हुए सुने जा सकते हैं।

सुमन जी की तीसरी कृति 'प्रलय-सृजन' है। इसमें कलात्मक विकास तथा सन्तुलित एवं प्रौढ विचार के दर्शन होते हैं। पहले अशुभ का विनाश और तब सृजन—इसी आकांक्षा से कवि प्रेरित दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन एवं जर्जर पूँजीवादी समाज का ध्वंस आवश्यक है, तभी नवसृजन भी सम्भव है।

शोषकों ने समाज के अधिकांश सदस्यों को बेबसी और गरीबी का अभिशाप ढोने के लिये मजबूर कर दिया है। जो गरीब हैं वे भोजन और वस्त्र के अभाव में दमा और तपेदिक के शिकार होकर दम तोड़ते हैं। उनका एक यथार्थ चित्र कवि की इन पंक्तियों में देखिये—

रक्षित है लाज लँगोटी पर हैं कंठ बोलते घरर घरर
आ रही असह दुर्गन्ध पसीने और चीथड़ों से झर झर
कुछ दमा तपेदिक से बेदम कुछ खाँस रहे हैं पड़े पड़े
सम्पत्ति फटी मिरजई और अधजली बीड़ियों के टुकड़े। (पृ० ८-९)

अंगरेजों के कुशासन और शोषण-काल में भारत में कई बार अकाल पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के समय बंगाल का अकाल बड़ा भयानक था। उसके भयावह परिणाम का नग्न चित्र प्रस्तुत करते हुए सुमन जी ने लिखा था—

निपट दुधमुँहे बच्चे सूखी छाती से आसक्त
चूस रहे माँ के जीवन का बचा बचाया रक्त
जिस गोदी में जीवन पाया पाया लाड़-दुलार
आज उसी में बिना कफन के सोये शिशु सुकुमार। (पृ० ७६)

इस प्रकार लाखों इन्सानों को भूख की ज्वाला में तड़प-तड़प कर मरते देख कर कवि का हृदय शासक-शोषक वर्ग के प्रति आक्रोशपूर्ण हो उठता है। उस व्यवस्था को उलट फेंकने की प्रतिज्ञा करते हुए वह कहता है—

मानवता की शपथ ले रहे हैं यह कहकर आज
एक-एक दाने का बदला ले लेंगे मय ब्याज
उलट तुम्हारी सड़ी व्यवस्था डालेंगे वह नींव
फिर न विसूर कर मरे यहाँ नरतन धारी जीव
वर्गभेद शोषक शोषित के फिर न पड़ेंगे देख
आगे के कवि को न पड़ेगा लिखना ऐसा लेख। (पृ० ८३)

भारतवर्ष के पददलित शोषित वर्ग का जीवन राह के कंकड़ पत्थर से भी बदतर है। कवि के कंकड़ पत्थर को देखिये—

पर मैंने कल पथ पर देखी पददलित मानवों की टोली
थी जिनकी आह-कराहों में मेरी परवशता की बोली।
उनकी भी हाहाकारों पर देता था कोई ध्यान नहीं।
अपने सूखे जर्जर तन में लगते थे मेरे हमजोली,
जीवन में पहले पहल मुझे भी अपने पर कुछ गर्व हुआ
मैं जड़ होकर भी इन चेतन नर-कंकालों से बढ़कर हूँ।
मैं पथ का कंकड़-पत्थर हूँ। (पृ० २०)

श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने सोवियत भूमि के प्रति भी अपने आकर्षण और प्रेम का परिचय दिया है। साम्राज्यवाद के खूनी पंजों में पड़े हुए धरती के तमाम मुल्कों में शोषित वर्ग के लिये सोवियत रूस का लाल सितारा भाग्योदय का संदेश लेकर प्रकट हुआ था। शोषितों के हृदयोद्गार की अभिव्यक्ति देते हुए कवि ने लिखा था—

नव संस्कृति के अग्रदूत हैं
पद दलितों की आस
एक तुम्हारी गति पर अटकी
मानवता की साँस
पर अजेय है आज तुम्हारी
पहले से भी शक्ति
जिसमें मिली विश्व भर के
दलितों की चिर अनुरक्ति। (पृ० ४-५)

कवि की 'मास्को अब भी दूर है' शीर्षक कविता में मार्क्सवादी दृष्टिकोण की रुझान का परिचय मिलता है। यह कविता अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है। इसका प्रचार इतना हुआ कि संसार की कई भाषाओं में उसी समय इसका अनुवाद हो गया था। इसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

यह दलितों की तीर्थ भूमि है
युग का प्रबल तकाजा,
सर्वप्रथम साम्राज्यवाद का
निकला यहाँ जनाजा।

यहाँ संगठित जन-जीवन की
बोला करती तूती
जिसने युग की वर्बरता को
दे दी आज चुनौती
इस जन-गढ़ मे जो-जो आता
होता चूर गरूर है
दस हफ्ते दस साल बन गए
मास्को अब भी दूर है

इसी प्रकार 'चली जा रही है बड़ी लाल सेना' का भी प्रगतिशील काव्य-धारा में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

कवि सुमन का चतुर्थ काव्य-संग्रह 'विश्वास बढ़ता ही गया' है। इसमे भी साम्राज्यवादी शक्तियो की कटु आलोचना उपलब्ध होती है। दृढता और विश्वास का स्वर बलवान है, कही भी दुर्बलता अथवा नैराश्य को प्रश्रय नही मिल पाया है। संग्रह की प्रथम कविता मे ही पूँजीपतियो पर कवि उबल पडा है। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

आज जो मैं आवेश मे हूँ अनमना हूँ
यह न समझो मैं किसी के रक्त का प्यासा बना हूँ
सत्य कहता हूँ पराए पैर का काँटा कसकता
भूल से चींटी कही दब जाय तो भी हाय करता
पर जिन्होने स्वार्थवश जीवन विषाक्त बना दिया है
कोटि कोटि बुभुक्षितो का कौर तलक छिन लिया है
'लाभ शुभ' लिखकर जमाने का हृदय चूसा जिन्होंने
और कल बंगाल वाली लाश पर थूका जिन्होंने
बिलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिसने न फेरी
यदि क्षमा कर दूँ उन्हे धिक्कार माँ की कोख मेरी। (पृ० ८)

देश की मिट्टी की आवाज उन साम्राज्यवादियों तक पहुँचाते हुए कवि कहता है—

देखे कल दुनिया मे तेरी होगी कहाँ निशानी
जा तुझको न डूब मरने को भी चुल्लू भर पानी
शाप न देंगे हम बदला लेने की आन हमारी
बहुत सुनाई तूने अपनी आज हमारी बारी

आज खून के लिए खून, गोली का उत्तर गोली
हस्ती चाहे मिटे न बदलेगी बेबस की बोली
तोप-टैंक एटम बम सब कुछ हमने सुना-गुना था
यह न भूल मानव की हड्डी से ही वज्र बना था। (पृ० ४३)

प्रगतिवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्या की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। एशिया में फैली हुई क्रान्ति की आग को अक्षय बतलाते हुए कवि ने लिखा था—

इसे बुझाने आसमान में काले मेघ बहुत मड़राए
रावण, अहिरावण, दुःशासन, नीरो, जार बहुत से आए
हिटलर, तोजो, मुसोलिनी ने अंजुलि भर भर रक्त उलीचा
पर न बुझी यह
पर न बुझी यह
स्वयं बुझे वे, जिन हाथों ने
मानवता का हृदय चीर कर इसको सींचा। (पृ० २७)

मानवता का हृदय चीरने वाले स्वयं बुझ गए, किन्तु क्रान्ति की आग उनसे बुझाए न बुझी। भारतवर्ष में अंगरेजों द्वारा उभारा हुआ हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य समय-समय पर बड़ा वीभत्स दृश्य उपस्थित करता रहा है। सन् '४६ में इसका सर्वाधिक उग्र विस्फोट देखने को मिला था। उस हिन्दू-मुस्लिम दंगे पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कवि ने इसे शोषकों का छल-छन्द बतलाया। उसकी दृष्टि में गरीबों का खून चूसने के लिए शोषक और सरमायेदार दंगा करा दिया करते हैं—

ये छल छन्द शोषकों के हैं कुत्सित ओछे गन्दे
तेरा खून चूसने को ही ये दंगों के फन्दे। (पृ० ५२)

श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने नागार्जुन और शील के समान कांग्रेसी सरकार पर कीचड़ न उछाल कर निर्माण के स्वर में देश की जनता का आह्वान किया और उनसे कर्तव्यशीलता की कामना की—

आओ, धरती पर उतरो, तुम भी चुन लो अपना काम
संक्रमण-काल में कहीं सिपाही करते हैं आराम!
लाओ गढ़ ताम्रपत्र पर युग के संघर्षों के मन्त्र
नीवों के नीचे रक्खे जायेंगे ये मंगल-यन्त्र

नव संस्कृति के निर्माण-प्रहर में क्षमा न क्षणभर ढील
नव संकल्पों से शेषनाग के फन मे गाड़ो कील। (पृ० २८)

सुमन की पाँचवी काव्य-कृति "पर आँखें नही भरी" है जिसमें पुनः प्रणय सम्बन्धी भाव-चित्रों का विधान हुआ है। किन्तु इस संग्रह मे निराशा का वैसा योग नही है जैसा 'हिल्लोल' में देखा गया था। पुस्तक की "मैं तुम्हें पहचानता हूँ", 'पर आँखें नहीं भरी' आदि शीर्षक कविताएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

सुमन का 'विन्ध्य-हिमालय' सन् १९६६ में प्रकाशित हुआ है। इसमें भी कवि के प्रगतिशील दृष्टिकोण के दर्शन होते है। 'युग की गायत्री' की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

इन सबसे बढ़कर भूख बिलखती मिट्टी की
पथ पर पथराई आँखे पास बुलाती है,
भगवान भूल मे रचकर जिनको भूल गया
जिनकी हड्डी पर धर्म-ध्वजा फहराती है।

*　*　*

मैं देख रहा हूँ तुम इनको फिर भूल चले
बातों बातों मे हमें बहुत बहलाते हो,
बेबसी चीखती जब बच्चो की लाशों पर
उसकी आजादी की प्रतिध्वनि बतलाते हो।

*　*　*

इतिहास न तुमको माफ करेगा याद रहे
पीढ़ियाँ तुम्हारी करनी पर पछताएँगी
पूरब की लाली मे कालिख पुत जाएँगी
सदियों मे फिर क्या ऐसी घड़ियाँ आएँगी।
इसलिए समय के सैलाबों को मत रोको
खुशहाल हवाओ मे न खिड़कियाँ बन्द करो,
हर किरण जिन्दगी की आँगन तक आने दो,
नव निर्माणों की लपटों को मत मन्द करो। (पृ० ५५)

इस संग्रह तक आते-आते कवि की भाषा बहुत परिमार्जित और पुर-असर हो गई है। शिल्प में युगानुकूल परिवर्तन भी हुए हैं।

अब तक के विश्लेषण से यह प्रमाणित हो जाता है कि श्री शिवमंगल सिंह

'मुमन' वहुत ही सशक्त प्रगतिवादी कलाकार हैं और अभिव्यक्ति में सर्वाधिक संयम का परिचय दिया है। काव्यत्व की दृष्टि से भी मुमन की रचनाएँ अन्य प्रगतिवादी कवियो की तुलना मे कही अधिक गंभीर, भावना-प्रधान और अनुभूति पूर्ण हैं।

## गजानन माधव मुक्तिबोध

सन् १९४३ ई० में प्रकाशित 'तारसप्तक' मे अपनी रुझान को स्पष्ट करते हुए श्री गजानन माधव मुक्तिवोध ने लिखा है कि "क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ। शुजालपुर मे पहले पहल मैंने कथातत्व के सम्बन्ध में आत्मविश्वास पाया। दूसरे अपने काव्य की अस्पष्टता पर मेरी दृष्टि गई, तीसरे नये विकास-पथ की तलाश हुई।" उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि श्री मुक्तिवोध ने पचीस वर्ष की उम्र मे मार्क्सवाद एवं साहित्य सवंधी मार्क्सवादी उद्देश्यों से परिचय प्राप्त किया था। जब वह सन् १९४३ ई० मे शुजालपुर छोडकर उज्जैन चले गए तो वहाँ उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। संघ की बैठकों तथा समारोहो में वह श्री रामविलास शर्मा और अमृत राय जैसे प्रगतिवादी साहित्यकारो को बुलाया करते। सन् '४४ के अन्त में फासिस्ट विरोधी लेखक सम्मेलन के आयोजनकर्त्ता यही थे जिसकी अध्यक्षता राहुल साङ्कृत्यायन ने की थी।

'तारसप्तक' मे श्री मुक्तिवोध की संकलित रचनाओं मे एक कविता 'पूँजीवादी समाज के प्रति' है, जिसमें कवि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत तमाम आध्यात्मिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक समृद्धि को ढोंग का सरक्षक बतलाता है। इस व्यवस्था मे वैचारिक निगूढ़ता के जाल का फैलाव सत्य को नकारने मे व्यस्त है---

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि
इतना ज्ञान, संस्कृति और अतः शुद्धि,
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति,
यह सौन्दर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर भक्ति,
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द,
जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बंध,
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुन्दर जाल---
केवल एक जलता सत्य देने टाल।

इस व्यवस्था का ध्वस सुनिश्चित मानते हुए कवि ने जनता के विक्षोभ के

हठ इनकार का सिर तान......खुद मुखतार अब जैसे कोई तानाशाह पलटन-रिसाले की बदौलत आतंक जमाता है; जनता की आवाज का गला टीप लेता है; तो उसके खिलाफ जैसे कोई विद्रोही बगावत कर बैठे तथा कैद से निकल भागकर घाटियो मे छुपकर शास्ता के विरुद्ध छापामार युद्ध की तैयारी शुरू कर दे—कुछ वैसी ही गतिविधि भीतरी मन की दुनिया में ईमान की है। जनता की सारी हमदर्दी उस बागी के साथ हो जाती है। कवि बड़ी खूबी से मानसिक यथार्थ का सामाजिक सत्य के साथ मेल बिठाते हुए परोक्षतः इनकलाबी चेतना को उत्प्रेरित करता चलता है—

लेकिन उधर उस ओर
कोई बुर्ज के उस तरफ जा पहुँचा,
अंधेरी घाटियो मे के गोल टीलो, घने पेडो मे
कही पर खो गया,
महसूस होता है कि वह बेनाम
बेमालूम दर्रों के इलाके मे
(सच्चाई के सुनहले तेज आक्सों के धुंधलके मे)
मुहैया कर रहा लश्कर
हमारी हार का बदला चुकाने आयेगा
संकल्पधर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वण.क्षर
प्रकट होकर विकट हो जायगा।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की सबसे महत्वपूर्ण एवं बहुचर्चित कविता 'अँधेरे में' परम अभिव्यक्ति की तलाश मे स्वप्न यात्रा करती है और अवचेतन मन की अतल गहराई में प्रवेश कर अनुभव के, वेदना ।के, विवेक निष्कर्ष के रत्नों की चमक से भरपूर वर्गीय जीवन की झाँकी प्रस्तुत करती चलती है। यहाँ कवि ने लोभ और अहंकार से पागल व्यवस्था की दमनकारी नीति के सहकार जुलूस में शामिल लोगों की जीवन्त तस्वीरें पेश की हैं और यह जतलाने का प्रयास किया है कि सच कहने वाला किस तरह जालिम निगाहों का निशाना बनता है। शोषकों एवं उनकी हिफाजत में तैनात अमलों-रिसालों की दुनिया से अलग गरीबों की बस्ती किधर है, कहाँ है, हमने अभी तक समाज से जितना लिया, उतना लौटाया नहीं, बराबर अपने लिए जिया; हमारे रक्त और प्राणों के भीतर जनम रही अनुभूतियो की चमक बाहर फैल नहीं पाती; जालिमों के भय से हम जान बचाकर भागते चलते हैं; यहाँ सत्य का दर्शन भी अपराध है—आदि कितनी बातो को सधे बिम्बों की गत्वरता में अन्धकार

ऐसी मान्यता से किसी को इनकार नहीं कि प्रसाद, पंत और निराला के बाद नई पीढ़ी में हिन्दी का सबसे सशक्त रचनाकार मुक्तिबोध हुए। काव्यात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त अन्तर्मन में उठ रही भाव तरंगों, तरंगों के पारस्परिक घात-प्रतिघातों एवं द्वन्द्वों का सावेगिक क्रम में बढ़ने वाले स्वप्न सत्य का बाह्य परिवेश में मौजूद द्वन्द्व से मेल बिठाना और ठीक इसके विपरीत जीवनगत यथार्थ को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से फैंटेसी और सर्वथा नवीन प्रतीकों का सहारा लेना मुक्तिबोध की रचनाओं में ही सम्भव हो पाया है।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की पहली कविता 'भूल-गलती' है। यहाँ भूल हमारे मन की वह हठधर्मिता है जो समाज के हित को ठुकराकर स्वेच्छाचारिता की प्रतीक बन बैठती है। किन्तु जब हम अपनी प्रवृत्तियों का समाजीकरण स्वीकार लेते हैं तो हम अपनी उस आन्तरिक स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति को भूल कहकर ही पुकारते हैं। अतः डा० रामविलास शर्मा की 'शैतान' वाली धारणा के विपरीत मैं भूल को व्यक्ति की वह हठधर्मी प्रवृत्ति मानता हूँ जो सामाजिकता के विरुद्ध है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी उस जैविक प्रवृत्ति को सामाजिक बोध से संस्कृत-परिष्कृत करने के निमित्त संघर्ष से गुजरता है।

'भूल-गलती' की भूल की चर्चा करते हुए कवि लिखता है—

भूल (आलमगीर)
मेरी आपकी कमजोरियों के स्याह
लोहे का जिरहबख्तर पहन, खूँख्वार
हाँ, खूँख्वार आलीजाह;
वो आँखें सचाई की निकाले डालता,
सब बस्तियाँ उजाड़े डालता,
करता हमें वह घेर
बेबुनियाद, बेसिर पैर.....
हम सब कैद उसके चमकते ताम झाम में
शाही मुकाम में !!

दूसरी ओर भूल के खिलाफ बगावत करने वाला ईमान है—

नामंजूर
उसकी जिन्दगी की शर्म की-सी शर्त
नामंजूर

हठ इनकार का सिर तान......खुद मुखतार अब जैसे कोई तानाशाह पलटन-रिसाले की बदौलत आतंक जमाता है; जनता की आवाज का गला टीप लेता है; तो उसके खिलाफ जैसे कोई विद्रोही बगावत कर बैठे तथा कैद से निकल भागकर घाटियो मे छुपकर शास्ता के विरुद्ध छापामार युद्ध की तैयारी शुरू कर दे—कुछ वैसी ही गतिविधि भीतरी मन की दुनिया में ईमान की है। जनता की सारी हमदर्दी उस बागी के साथ हो जाती है। कवि बडी खूबी से मानसिक यथार्थ का सामाजिक सत्य के साथ मेल बिठाते हुए परोक्षतः इनकलाबी चेतना को उत्प्रेरित करता चलता है—

लेकिन उधर उस ओर
कोई बुर्ज के उस तरफ जा पहुँचा,
अंधेरी घाटियो मे के गोल टीलो, घने पेडो मे
कही पर खो गया,
महसूस होता है कि वह बेनाम
बेमालूम दर्रों के इलाके में
(सच्चाई के सुनहले तेज अक्सो के धुंधलके मे)
मुहैया कर रहा लश्कर
हमारी हार का बदला चुकाने आयेगा
संकल्पधर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर
प्रकट होकर विकट हो जायगा।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की सबसे महत्वपूर्ण एवं बहुचर्चित कविता 'अँधेरे मे' परम अभिव्यक्ति की तलाश मे स्वप्न यात्रा करती है और अवचेतन मन की अतल गहराई में प्रवेश कर अनुभव के, वेदना के, विवेक निष्कर्ष के रत्नो की चमक से भरपूर वर्गीय जीवन की झाँकी प्रस्तुत करती चलती है। यहाँ कवि ने लोभ और अहंकार से पागल व्यवस्था की दमनकारी नीति के सहकार जुलूस मे शामिल लोगों की जीवन्त तस्वीरें पेश की हैं और यह जतलाने का प्रयास किया है कि सच कहने वाला किस तरह जालिम निगाहों का निशाना बनता है। शोषकों एवं उनको हिफाजत मे तैनात अमलों-रिसालों की दुनिया से अलग गरीबों की बस्ती किधर है, कहाँ है, हमने अभी तक समाज से जितना लिया, उतना लौटाया नहीं, बराबर अपने लिए जिया; हमारे रक्त और प्राणों के भीतर जनम रही अनुभूतियों की चमक बाहर फैल नहीं पाती; जालिमो के भय से हम जान बचाकर भागते चलते हैं; यहाँ सत्य का दर्शन भी अपराध है—आदि कितनी बातो को सधे बिम्बों की गत्वरता में अन्धकार

की पृष्ठभूमि पर ठोस दृश्यों में बाँधकर यह कविता अवतरित होती चलती है। वस्तुतः यह जादुई करतब का विराट् आयोजन है और स्वयं में अप्रतिम भी।

पूँजीशाही, व्यभिचारियों की सेवा में व्यस्त राजनेता, संपादक, चिन्तक आदि सचाई और ईमान को मारकर अपनी आत्मा मार चुके हैं। ऐसी मृतात्माओं का जुलूस हर रोज अँधेरे में निकला करता है—

और, तब मुझे प्रतीत हुआ भयानक
गहन मृतात्माएँ इसी नगर की
हर रात जुलूस में चलतीं
परन्तु दिन में
बैठती हैं मिलकर करती हुई षड्यन्त्र
विभिन्न दफ्तरों-कार्यालयों, केन्द्रों में, घरों में।
हाय, हाय! मैंने देख लिया नंगा,
इसकी मुझे और सजा मिलेगी।

कवि ने एक सिरफिरे पागल से मृतात्मा की अच्छी व्याख्या कराई है। उसके अनुसार—

उदरम्भरि बन अनात्म बन गये
भूतों की शादी में कनात-से तन गये
किसी व्यभिचारी के बन गये बिस्तर......

जनता की आवाज को दबोच कर इसके तमाम अधिकारों को छीन कर पूँजीशाही व्यवस्था ने अपना घेरा हर दिशा में मजबूत बना रखा है, क्योंकि उसे जनक्रान्ति का भय है।—

अखबारी दुनिया का फैलाव,
फँसाव, घिराव, तनाव है सब ओर,
पत्ते न खड़के,
सेना ने घेर ली हैं सड़कें।

कवि उस मार्शल-लॉ की गिरफ्त में आने के भय से भाग रहा है। वह अन्त में उस विशाल वट्वृक्ष के निकट पहुँचता है, जो अन्धकार-स्तूप-सा दीखता है और जिसके साये में गरीबों का बसेरा है—

भयंकर बरगद
सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों

गरीबों का वही घर, वही छत,
उसके ही तल-खोह-अँधेरे में सो रहे
गृह-हीन कई प्राण

जब आशंकित एवं भयभीत होकर कवि वहाँ से भी भागता है, तब उसका दिमाग चक्कर खाने लगता है। वह भूमि के सतहों के बहुत-बहुत नीचे अतल गुहा में तिमिर को भेदकर चमकते पत्थर देखता है, फिर तेजस्क्रिय रेडियो-ऐक्टिव रत्नों को भी जिन पर प्रपात का जल झरता है। किन्तु जब कवि उन्हें हाथों में लेकर देखता है तो पाता है कि—

दीप्ति मे वलयित रत्न वे नही हैं
अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष
मेरे ही अपने यहाँ पडे हुए है
विचारों की रक्तिम अग्नि के मणि वे
प्राण-जल प्रपात में घुलते है प्रतिपल
अकेले मे किरणो की गीली हैं हलचल
गीली है हलचल ?

कवि को अफसोस है कि उनका उपयोग लोकहित में नही कर उन्हें गुहावास दे दिया—

हाय, हाय ! मैने उन्हें गुहावास दे दिया
लोकहित क्षेत्र से कर दिया वंचित
ज्ञानोपयोग से वर्जित किया और
निषिद्ध कर दिया
खोह मे डाल दिया !!

तब बाल गंगाधर तिलक की मूर्ति उस पर गुस्से से काँप उठती है—

सब ओर गिर रही चिनगियाँ नीली
मूर्ति के तन से झरते है अंगार
मुसकान पत्थरी होठो पर काँपी
आँखो मे बिजली के फूल सुलगते।

कुछ देर बाद उसे गाँधी दीख जाते हैं। एक बिजली का झटका कह उठता है—

भाग जा, हट जा
हम हैं गुजर गये जमाने के चेहरे
आगे तू बढ़ जा !

गाँधी फिर कहते हैं—

"दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर
दानों को चुगने चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कुट
कोई भी मुरगा
यदि बाँग दे उठे जोरदार
बन जाये मसीहा"

गाँधी के अनुसार—

"जनता के गुणों से ही सम्भव
भावी का उद्भव"

कवि को बेचैन बिजली की नीली ज्वलंत बाँहों को उलझा कर प्रदीप्त लीला करनी है किन्तु उसे अफसोस है कि उसके पास न बिजली का रंग है और न वह स्वयं भीमाकार मेघ ही। फिर भी वह संकल्प करता है—

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।

कवि अँधेरे मे ध्वस्त दीवालों के उस पार गरम बहस सुनता है, वह देखता है कि—

चलते है लोग-बाग
दृढ़-पद गंभीर
बालक युवा गण
मंद गति नीरव
किसी निज भीतरी बात में व्यस्त हैं
कोई आग जल रही तो भी अन्तःस्थ।

ऐसे लोगों के साथ होना चाहकर भी कवि पिछड़-पिछड़ जाता है। लोगों के दूसरे रेले में वह साथ हो जाता है, फिर देखता है कि उन लोगों की मुट्ठियों में वे ही विक्षोभ-मणियाँ हैं—वे ही विवेक-रत्न हैं, जो कवि के रहे है। किन्तु वह स्वयं बौद्धिक जुगाली के कुछ कर नहीं पाता। हक के लिए संघर्षरत कोई श्रमिक कवि को

एक पर्चा थमाता है तो देखकर उसे बड़ा आश्चर्य होता है कि उस पर्चे में भी उसी के गुम विचार, दबी हुई संवेदनाएँ और अनुभव की पीड़ाएँ जगमगा रही हैं। विचार प्रक्रिया के प्रवाह में वह कहना चाहता है—

कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज में चल नहीं सकता।
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता,
स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को,
जन को।

अर्थात् पूँजी से जुड़े हृदय में बदलाव आना असंभव है, उसमे जड़ता आ जाती है। जो अभिव्यक्ति में स्वतन्त्रता का आग्रही है, वादी है वह स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के नाम पर मुक्ति चाहने वाले जन को, जनता के मन को छल नहीं सकता।

जब मिहनतकश इंसान ज़ुल्म के खिलाफ बगावत करते हैं तो उनपर गोलियाँ दागी जाती हैं, झोपड़ियाँ फूंक दी जाती हैं। ऐसी इनकलाबी घड़ी में सब चुप हैं—

सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप है
उनके खयाल से यह सब गप है
मात्र किंवदन्ती।
रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग
नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे।

किन्तु कवि को एहसास हो रहा है कि ये संघर्षशील शोषितजन उसकी आत्मा के चक्के पर संकल्प-शक्ति के लोहे का मजबूत ज्वलन्त टायर चढ़ा रहे है।

कविता मे परम अभिव्यक्ति की तलाश जारी रहती है। जब भी हम अपने भीतर झाँक कर देखते है तो सचाई को पहचानने की संभावना बढ़ जाती हैं। किन्तु कवि बेहिचक यह स्वीकारता है कि उसे बराबर कमजोरियो से ही लगाव रहा है। यही कारण है कि अन्तर्मन की गुहा मे विराज रहे उस रक्तालोक पुरुष का दर्शन वह कर नही पाता जो हृदय मे रिस रहे ज्ञान का तनाव है और जो आत्मा भी वही है। वह अपने पर खीझते हुए कहता है—

हाय, हाय ! मैंने उसे गुहावास दे दिया
लोकहित-क्षेत्र से कर दिया वंचित

जनोपभोग से वर्जित किया और
निषिद्ध कर दिया
खोह में डाल दिया !!

कवि को वह पुरुष लोगों की भीड़ में दिखलाई पड़ता है। वह अनवरत फटे-हाल रूप में जगत की गलियों में घूमता रहता है। इसलिए कवि भी उस परम अभिव्यक्तिस्वरूप पुरुष की तलाश में लगातार चक्कर काटता है—

इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर झाँक-झाँक कर देखता हूँ हर चेहरा
........................
खोजता हूँ पठार-पहाड़......समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मसंभवा।

इस आत्मसंभवा अभिव्यक्ति को डॉ० नामवर सिंह अस्मिता कह कर पुकारते हैं। वस्तुतः कविकर्म भीतर की संवेदनशील आँखों से जीवन की सचाई को परख कर उसे ऐसी कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करना है जो पाठकों एवं श्रोताओं को संवेद्य हो तथा जो भावात्मक ऊर्जा को विवेकशील उत्कर्ष दे सके। यह एक लक्ष्य है, जिसे निराला और मुक्तिबोध जैसे कवि भी कभी-कभी ही छू पाते हैं। 'अँधेरे में' कवि की उस सफलता का प्रमाण है और साथ ही उस अभिव्यक्ति को पा लेने की निरन्तर आकुलता का इजहार भी।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की सभी कविताएँ प्रायः मार्क्सवादी लक्ष्य एवं कला सिद्धान्त के अनुकूल हैं। कवि के संबंध में डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद से यह सीखा कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था को बदले बिना, क्या निम्न मध्यवर्ग और क्या श्रमिक वर्ग, इनकी मूल समस्याओं का समाधान संभव नहीं है। समाज को बदलने के लिए संघर्ष आवश्यक है, यह उनकी कविताओं से स्पष्ट है, किन्तु इस संघर्ष को चलाने के लिए एक क्रान्तिकारी पार्टी का संगठन आवश्यक है, यह स्पष्ट नहीं है। उनके काव्य नायक निम्न मध्यवर्ग के होते हैं, किन्तु उनके व्यक्तित्व को बदलने का काम मजदूर करते हैं।" (देखिए—नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ० २३४)

## शील

श्री शील कम्युनिस्ट न रहते हुए भी मार्क्सवादी कलाकर हैं। उनकी प्रमुख कृतियाँ 'चर्खाशाला', 'अंगराई', 'एक पग' और 'उदय पथ' हैं, जिनमें प्रगतिवाद की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों की स्थिति देखी जा सकती है। 'अंगराई' में कवि के सत्यान्वेषी बनने के चलते भ्रांतिग्रस्त समाज की उँगलियाँ उसकी ओर उठने लगी थीं—

चला-चला मैं सत्य खोजने
जग की उठी उँगलियाँ।
भ्रांति-व्यवस्थित परम्परा को
नाची नयन पुतलियाँ। (पृ० १३)

तब स्वभावतः कवि पुरातन के प्रति विद्रोही भावना से भर उठता है—

आज युगान्तर की जगती मे
क्यों न पुरातन शव दफना दे। (पृ० ८१)

अच्छा है कि पुराने जितने मृत विचार, अन्धविश्वास और धार्मिक रूढ़ियाँ हैं—सभी को दफना दिया जाए। क्योंकि लाश तो सड़कर और बीमारियाँ ही फैलाएँगी। 'एक पग' का कवि जमाने के बदल रहे रंग को देखकर बड़ा प्रसन्न दीखता है। सन् '४३ में उसने अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए लिखा था—

डर अब नही लुटेरों का है,
भय अब नही बघेरो का है,
कल की दुनिया बदल चुकी है
बच्चा-बच्चा शेरों का है।
मजबूरी मजदूरी छूटी;
अब का न्याय नही ठगता है।
नया नया; जीवन लगता है। (पृ० ७)

'नया जमाना' आ गया है इसमें नवजीवन का स्पन्दन स्पष्ट सुनाई पड़ता है—

पुलकित गात किसानों के हैं
सीने बढे जवानो के है
सबने मिलकर साथ-साथ ही
कदम बढाया रे!
नव जीवन आया रे। (पृ० ५)

उपर्युक्त उद्धरण में आस्था और उल्लास का स्वर प्रवाहपूर्ण एवं गीतात्मक प्राजलता से सम्पन्न है। किन्तु कवि यथार्थ से भी परिचित है। उसके देश के आशियाने में मुनाफाखोर, होर्डर, शोषक साम्राज्यवादी वर्ग ने छत्ते लगा रखे हैं और देश की बहू-बेटियाँ, बाल-बच्चे भूख से तड़पते हैं। लेकिन अमीरों के घरों में नाज-नखरे चल रहे है। कैसी विषमता है—

लगे हैं
आशियाने में
अभी तक बर्र के छत्ते।
मुनाफाखोर
होर्डर
मृत्यु के वंशज
लगाये हैं अभी दूकान शोषण की।
मनुजता,
हो रही खंडहर
तरसती बेटियाँ
बहुएँ
तड़पते—
दुधमुँहे बच्चे
अमीरों के घरों में
नाज-नखरे
चल रहे हैं। (पृ० ८१)

'उदय पथ' का प्रकाशन सन् १९५३ में हुआ। इसमें 'एक पग' के सन् '४३ में प्रकाशन के पश्चात् सन् '४४ से लेकर सन् '५३ तक तक लिखी गई कविताओं का संकलन है। इस बीच देश में बहुत-सी राजनैतिक घटनाएँ घटीं। उनके प्रभाव से यह काव्य-संग्रह भला वंचित कैसे रह सकता ? मार्क्स ने यह प्रमाणित किया था कि मन्दिर-मस्जिद के राम-रहीम शोषकों के हितसाधन में ही सहायक होते हैं। धर्म को अफीम की संज्ञा दी गई थी। कवि शील ने भी पाठक वर्ग को यह संकेत किया कि 'तुम' और 'हम' के बीच के अन्तर को मिटाने का सारा प्रयास मन्दिर-मस्जिद के चलते बराबर व्यर्थ प्रमाणित होता है—

हमें मिटाने की हलचल है, मन्दिर-मस्जिद के भीतर,
नाग फास लेकर बैठे हैं, युग के जड़ शोषक ईश्वर। (पृ० ४)

शोषक और शासक जीने के लिए आवाज उठाने वाले को बागी करार दे दिया करते हैं। यही हालत कवि के 'मधुवा' की हुई है—

मधुवा अब डाकू घोषित है, क्योंकि लड़ रहा वह जीने को।
मधुवा अब बागी कहलाता, क्योंकि न वह पत्थर बन पाया। (पृ० ५)

कवि ने रूस और चीन की भी प्रशस्ति गाई है—

रूस-चीन इतिहास बन गया, नये विचार नये जीवन का,
अब एटम निर्माण करेगा, सुखमय सत्य स्वप्न यौवन का। (पृ० ८)

किन्तु इसके साथ ही वह राष्ट्रीय भावना से भी अनुप्राणित है। इसी कविता की अगली पंक्तियां देखिए—

उठा एशिया, योरप जागा, सजग हुआ हर हिन्दुस्तानी,
देश देश में जन्म ले चुकी, नई जिन्दगी नई जवानी। (पृ० ८)

किन्तु वह देश के पूंजीवादी तत्व के प्रति अनवरत संघर्ष-भावना को जीवित रखता है। शोषितों को जागरण का संदेश देते हुए वह लिखता है—

हनूमान फिर ध्वजा उठाओ,
कोरी, काछी, कुरमी, पासी, कोल, किरात, अहीर, मराई,
ठाकुर, ब्राह्मण, नाई, धोबी, तेली, गूजर, कजर, बारी।
तुम सब की है जात एक ही, जात एक ही पांत एक ही।
तुम गरीब हो, तुम शोषित हो,
अरे तुम्हारा वर्ग एक है, और तुम्हारा स्वर्ग एक है।
अपना स्वर्ग बनाओ अपने हाथों। (पृ० ३४)

आजादी के बाद बापू के शिष्यों में बड़ा परिवर्तन आया। वे त्याग और तपस्या का मार्ग छोड़कर बेईमान हो गए। उनकी चर्चा करते हुए कवि लिखता है—

सेठ-साहूकार स्वामी बन गये
शिष्य बापू के सकामी बन गये। (पृ० २२)

कवि ने भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू को भी माफ नहीं किया है। उनके प्रधान मन्त्रित्व काल में भी अकाल मुँहजोरी कर रहा था, चोर बाजार का खूब चला-चला था—

जिन्दा रहें जवाहर लाल,
अब मुँहजोरी करे अकाल

घर में औरत रहे उघार;
पनपे भले चोर बाजार,
मुट्ठी में सारे कानून,
जमींदार क्या अफलातून,
छीने खेत और खलिहान,
रोके बाग और मैदान। (पृ० ५७)

साम्यवादियों द्वारा तिलंगाना के किसानों को जमीदार के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति के लिए उभारा गया था। सरकार की फौज भी उन्हें दबाने में असफल हो रही थी। उन विद्रोहियों की प्रशस्ति गाते हुए कवि ने लिखा था—

लगी है होड़ जुल्मों से हुआ बागी तिलंगाना,
बगावत गा रही है, जिन्दगी का क्रांति गाना।
कि जुल्मी शासकों के चिह्न अब तो रह न पायेंगे।
उगा है खून धरती में नई आया झलकती है;
नये युग के लिए इन्सान में आह्वान जागा है।
हमारी मुश्किलों की भीड़ हमसे दूर हो जाओ,
हमारे देश में भी अब नया इन्सान जागा है। (पृ० ४८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि शील की कविताओं में प्रगतिवादी चेतना अपनी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों के साथ वर्तमान है। कवि की भाषा में प्रसाद गुण की अधिकता है, साथ ही आवेगपूर्ण प्रवाह भी है।

## कलक्टर सिंह 'केसरी'

केसरी जी सर्वाधिक संवेदनशील और भावुक कवि हैं जिनकी कविताओं में दीन-अनाथों के जीवन का यथार्थ गहरी संवेदना के साथ अभिव्यक्त हुआ है। प्रगति युग की इनकी प्रधान कृति 'मराली' है जो सन् १९४२ में प्रकाशित हुई थी। 'भिखारिन' शीर्षक कविता में यातुधानी सभ्यता-निकषा को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए कवि कहता है—

हाय री जग-सभ्यता—
निकषा, अरी तू यातुधानी
पिस रहा तेरे अनय के
चक्र में यह मनुज प्राणी

रक्त से श्रमजीवियो के
हूँ बनी यह हेम-लका
तू अशक्तों के लिए
आतंक-सी गर्वित अशंका । (पृ० १३)

वस्तुतः श्रमजीवियों के रक्तशोषण से ही रावण की स्वर्ण-लका आबाद होती है ।

किन्तु कवि को विश्वास है कि पददलित मानव की शक्ति एक दिन अवश्य विप्लव मचाएगी और तब शोषको को कोई बचा नही सकेगा—

जयति मानव ! जयति मानव !
एक तुमुल पुकार होगी
और यह दानव-दलों की
पाप लंका छार होगी । (पृ० १३)

ऊँच-नीच को समतल करने का आकाक्षी कवि समता के वधिक के लिए जीवन-धन का वध्य बन गया है—

पर धूमकेतु हूँ कुटिल भिन्नता
के उन अर्क-जवासो का
मैं प्रलयंकर-कर का पवि हूँ
समता के वधिक गवासो का । (पृ० ८१)

पर्व-त्योहार के अवसर पर क्षण भर के लिए एक मजदूरनी भी आनंद-उल्लास में डूब जाना चाहती है । फागुन के आने पर वह भी अपने प्रियतम से कुछ मनमानी करने का अनुरोध करती है । किंतु उसका प्रियतम जीवन की अनेक चिंताओं में व्यस्त है, लगता है कि उसकी सुधि ही बिसार रहा हो—

आज नही मजदूर, आज
राजा मेरे मैं तेरी रानी
वर्ष-पर्व है पिया, आज
कुछ कह-सुन ले अपनी मनमानी
आज सुधि कैसे रहा बिसार
पिया ! यह फागुन बीत चला । (पृ० ८७)

इन पंक्तियो मे वस्तुतः मजदूरिन की आशा-आकांक्षा का चित्र उसके विषमतापूर्ण वातावरण के परिप्रेक्ष्य मे बोल उठा है । भावनाओं से युक्त विह्वल

हृदय का यह संश्लिष्ट बिंब-विधान अनुपम है। इस कृति की 'उजड़ा दयार या चमन कहूँ' और 'गरीबिन का बेटा' शीर्षक कविताएँ भी बड़ी मार्मिक और भावना-प्रधान हैं। गरीबों के दुःख दर्द को इतने गीले कंठ से शायद ही किसी ने स्वर दिया हो।

प्रगतिवादी आन्दोलन को बल देने वाले अथवा संचालक कवियों को शिल्प और शैली की दृष्टि से हम तीन कोटियों में विभक्त कर सकते हैं :—छायावादी, छायावादोत्तर और प्रयोगशील। छायावादी कोटि के कलाकार पंत और निराला हैं, छायावादोत्तर शिल्पियों में दिनकर, अंचल, शिवमंगल सिंह सुमन आदि परिगणित होंगे। प्रयोगशील कोटि में प्रवृत्ति की दृष्टि से दो वर्ग हैं :—एक विशुद्ध प्रगतिवादियों का और दूसरा ऐसे कवियों का जो सामाजिक यथार्थ को काव्य का उपकरण बनाने में वैयक्तिक यथार्थ को कम महत्व नहीं देते। नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल को हम विशुद्ध प्रगतिवादी कह सकते हैं। जिन कवियों ने कथ्य के वृत्त में जीवन की सम्पूर्ण भंगिमाओं, मानसिक प्रतिक्रियाओं को समेटकर उपकरण के अनुरूप नये शिल्प को रूपायित किया और साथ ही वे मार्क्सवाद के जीवन-दर्शन से प्रभावित रहे, ऐसे कवियों में गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, गिरिजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह और नरेश मेहता आते हैं। कहने का तात्पर्य है कि ये सभी 'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' के कवि प्रगतिवादी से अधिक नई कविता के शिल्पी हैं। फिर भी इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इन कलाकारों की बहुत-सी रचनाएँ जिनमें सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति मिली है, प्रगतिवादी ही मानी जाएँगी। नई कविता के उन्मेष के दो चरण हैं। प्रथम चरण की अवधि सन्'४० से सन् १९५२ तक की है। इसी अवधि में प्रगतिवादी आन्दोलन भी सक्रिय था। अतः इस अवधि के कई प्रयोगशील जनवादी कलाकर भी प्रगतिवादी बने रहे।

## पंचम प्रकरण

# प्रगतिवादी रचनाओं का भावपक्षीय वैशिष्ट्य

प्रायः प्रगतिवाद पर लिखी गई सभी समीक्षा-पुस्तकों में या तो प्रगतिवादी प्रवृत्तियों का विश्लेषण हुआ है या उसके मार्क्सवादी दर्शन की व्याख्या की गई है। उसके काव्य-पक्ष पर बहुत कम विचार हुआ है। अनेक समीक्षकों ने प्रगतिवाद के काव्यत्व को हेय दृष्टि से देखा है। चूंकि वह राजनीति का अनुचर साहित्य है इसलिये उसमें भाव, रस आदि की चर्चा ही वे व्यर्थ समझते हैं। उनकी धारणा है कि प्राचीन साहित्य को 'बुर्जुआ और सामन्तों का वाग्विलास समझने वाला प्रगतिवादी साहित्य फूल-पत्तियों को जगह चिमनी के धुएँ, सजावट की जगह चिथड़े, रस की जगह शोषण और दैन्य तथा सौंदर्य की जगह कुत्सापूर्ण चित्रों का ढेर लगाने का संकल्प लेकर चलता है।

मेरी दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न है। प्रगतिवाद अपने दर्शन-पक्ष की भाँति ही काव्य-पक्ष से भी समृद्ध है। उसके साहित्य की व्याख्या भी प्राचीन भाव-रस, छन्द वाली पद्धति से की जा सकती है और उसमें भी गुणों और अलकारों का अनुसंधान किया जा सकता है। दीन-हीनों के चित्रण मे करुण भाव, क्राति के आह्वान मे वीर और रौद्र रस तथा सौंदर्य चित्रण मे स्त्रैण की जगह पौरुषपूर्ण शृङ्गार की अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है। गुणों मे ओज और प्रसाद गुण की तो मानो प्रगतिवादी रचनाएँ खान हैं। अभिव्यक्ति की दृष्टि से भाषा को सहज प्रवाहशील शक्ति शायद ही किसी काव्य-धारा में इतनी व्यक्त हुई है। इसलिये प्रगतिवादी काव्य काव्यत्व से रहित नही है। दूसरे शब्दों मे उसमे काव्य शरीर—शब्दार्थ और काव्यात्मा—रस का अभाव नही है। सच तो यह है कि वह सीधी सरल किन्तु प्रवाहपूर्ण वाणी में जीवन-रस का काव्य है। वह कुछ के जीवन का नही, समष्टि के जीवन का काव्य है और उसी जीवन रस से आविल है।

### भाव-पक्ष

भाव ही काव्य की आत्मा है। कलात्मक ढंग से कवि द्वारा अभिव्यंजित कृति का

देते हैं। भरत द्वारा इनकी संख्या तैंतीस बतलाई गई है। रस-निष्पत्ति के लिए 'हृदय-संवाद' और 'तन्मयी भाव' के अतिरिक्त अनुभूति को रसानुभूति में पर्यवसित करने के लिए 'साधारणीकरण' की आवश्यकता है। अभिनव गुप्त के अनुसार लौकिक जगत से सम्बन्ध तोड़कर देशकालादि से विच्छिन्न व्यक्ति-विशेष के अनुभव से दूर होकर केवल विभावादि द्वारा अभिव्यक्त व्यापार के चित पर पड़ने वाले साधारण प्रतिबिम्ब को साधारणीकरण कहते हैं।

सक्षेप में रसवादी साहित्यिकों का भावपक्ष से सबंधित यही मौलिक विवेचन है। रसवाद के उपर्युक्त विवेचन से कुछ बातें ऐसी निकल आती है जो हमें उन बिन्दुओ पर पुर्नविचार के लिए बाध्य करती हैं। सबसे पहली बात यह है कि आलकारिकों ने रस को 'अलौकिक' बतलाया है। मनुष्य के शरीर मे कोई वस्तु अलौकिक नही है। इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नही। वस्तुतः रसवादियों के इस निर्णय पर पहुँचने का आधार दुःखद घटनाओं के चित्रण से भी आनन्दानुभूति की प्राप्ति है। प्रत्यक्षतः हम लौकिक जगत् मे देखते हैं कि दुःखद स्थिति से व्यक्ति बचना चाहता है, उसकी पुनरावृत्ति वह कभी नही चाहेगा। लेकिन साहित्य के माध्यम से वही दृश्य चित्रित होकर भी हमें रस प्रदान करता है। अस्तु, रस को लोगो ने अलौकिक घोषित कर दिया और दूर तक इसमे निहित मनोवैज्ञानिक सत्य को ढूँढने का प्रयास नही किया गया। आजकल मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष के अनुसार 'काव्य-पाठ या काव्य-श्रवण से मन मे एक वृत्ति (ऐटीट्यूड) का जन्म होता है जिसे रस कह दिया गया है। यह वृत्ति रसिक के मन में पहले से ही तैयार होती है और उसी के अनुसार वह काव्य से रस ग्रहण करता है।" (हिन्दी साहित्य-कोश (भावपक्ष), पृ० ५४८)। कल्पना के अनुकूल भावना के जन्म से सुखानुभूति होना—यही मनोवैज्ञानिक कारण है। यदि मन की कल्पना के विरुद्ध काव्यस्थिति है तो संघर्षमूलक प्रक्षोभ का उदय होता है।

रसवाद ने एक तरह से भावो की निराकार सत्ता का समर्थन किया है और उन्हें चिरन्तन भी बतलाया है। वस्तुतः रति, भय, शोक, क्रोध आदि स्थायी भाव कोई अमूर्त सत्ता नही रखते। समाज के विकासक्रम में इनके रूप परिवर्तित होते जाते हैं।

रसानुभूति के आधार पर चित्त संस्कारों के "सामाजिक क्रम-विकास अथवा रूपान्तर के सम्बन्ध मे प्राचीन आलंकारिकों ने कोई विचार किया ऐसा मालूम नही होता। वास्तव जीवन में हमारी नाना अनुभूतियों के मूलगत ये जो भाव हैं, जिन्हें अंग्रेजी मे instinct और sentiment कह सकते हैं—वे सब सम्पर्कों से विच्छिन्न व्यापार नहीं है। भावमात्र का ही एक वास्तव कर्म-प्रेरणा का पहलू (conativeaspect) है

और उस कर्म-प्रेरणा के द्वारा ही भाव अपनी यथार्थ अभिप्रेत परिणति और सार्थकता को प्राप्त हो सकता है।" (मार्क्सवाद और साहित्य—महेन्द्र चन्द्र राय, पृ० १७१)

रसवादियों ने चित्तवृत्तियों को ज्ञान-स्वरूप तथा आत्मज्ञान के आस्वादन को ही रस बतलाया है। लेकिन रस की अलौकिकता में विश्वास रखने वाले रति, क्रोध आदि की अभिव्यक्ति से उत्पन्न होने वाली अनुभूतियों को लौकिक अनुभूतियों से पृथक् करने में अपने को असमर्थ पायेंगे। वास्तविकता यह है कि "रसानुभूति के क्षेत्र में अनुभव कर्त्ता अनुभूति से आच्छन्न होते हुए भी उस अनुभूति के आस्वादक के रूप में अपनी स्वतंत्र-सत्ता की रक्षा करता है। रसानुभूति के इस द्वान्द्विक रूप को साधारण तर्क के द्वारा समझना संभव नहीं है, इसीलिए इस विषय में नाना प्रकार के वितर्कों की अवतारणा हुई है और रसानुभूति को 'अलौकिक' तक करार देने की कोशिश की गयी है।" साहित्य 'भाव' के अंतहीन, असीम स्वरूप को अभिव्यक्त करने में जब सफल हो जाता है, तब वह हमारे जीवन की रागात्मकता को जगाकर कल्पना-लोक में अंशतः हमें लौकिक जीवन की हलचल से बंधनमुक्त कर देता है। उससे प्राप्त होने वाली वही अनुभूति 'रसानुभूति' कही जाती है।

मार्क्सवाद कर्म पर विशेष जोर देता है, अतः उसके अनुसार साहित्य केवल निष्क्रिय मानसिक रसास्वादन की वस्तु नहीं हो सकता, उसका सामाजिक उत्तरदायित्व भी है। वह साहित्य के माध्यम से समाज के ढाँचे में आमूल परिवर्तन करना चाहता है। परिणामतः साहित्य आज मात्र रस-साहित्य नहीं रह गया है; अब इसने सम्पूर्ण जीवन के आस्वादन का भार उठा लिया है।

रस-निष्पत्ति सौन्दर्यानुभूति से प्राप्त आनन्द के अतिरिक्त कुछ नहीं। यह सौन्दर्यानुभूति स्थायी भाव में जितनी मात्रा में उपलब्ध होगी, उतनी अनुभाव अथवा संचारी भाव में प्राप्त हो सकती है। डॉ० रघुवंश के अनुसार भी "रस-निष्पत्ति का मूलाधार सौन्दर्यानुभूति है; या यह भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य की अनुभूति के आनन्द से भिन्न रसास्वाद का अर्थ कुछ नहीं है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदि का वर्णन, विवेचन तथा विस्तार मात्र इसलिए है कि रस सिद्धान्त काव्य की व्याख्या मनुष्य के मनोभावों के आधार पर करने का प्रयत्न करता है। रसानुभूति के क्षण में सब स्थायी समान हैं, विभाव समान हैं, अनुभाव, संचारी समान हैं। रसानुभूति की तीव्रता आदि में काव्याभिव्यक्ति के कारण कमी हो सकती है, पर न तो दो रसों में तात्विक भेद होता है और न रस के स्तर अथवा कोटियाँ ही संभव हैं।" (रस-निष्पत्ति, साहित्य कोश, पृ० ६२८)।

प्राचीन साहित्यशास्त्रियों ने जड़ तथा अमूर्त आलम्बनो को स्वीकृति प्रदान नही की है। ऐसी जड़ अथवा अमूर्त वस्तुओं के प्रति रतिभाव को अनुचित ठहराया है। नायकों में भी कुलीनता और आदर्श का ध्यान रखा गया है। इस विचारधारा के विरुद्ध चलकर छायावाद ने नई परम्परा स्थापित की। (बल्कि रहस्यवाद में ही इसकी नींव पड़ चुकी थी।) प्रकृति मे आत्म तथा परमात्म दर्शन किया जाने लगा, लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के आलंबन अपनाए गए। युग-परिवर्तन के साथ ही आलबन संबंधी दृष्टिकोण मे परिवर्तन होना स्वाभाविक था। आधुनिक काल में "वीर रस" के लिए देश सेवक, आत्मबलिदानी, राष्ट्रोन्नायक, देश-सुधारक तथा सत्याग्रही; वीभत्स के लिए देशद्रोही, शत्रु की सहायता करनेवाले, हास्य के लिए विदेशी वेश-विन्यास या आचरण वाले, मतदान मांगने वाले, प्राचीनतावादी आदि; करुण के लिए शोषित जनता, कृषक तथा निम्न वर्ग, अछूत, दलित एवं पतित, निष्कासित शरणार्थी, विधवा अथवा त्रस्त नारी आदि नये आलंबन बने। पहले हमारा ध्यान बाह्य सौंदर्य पर अधिक था। आज जीवन के भीतर छिपे सत्य के सौंदर्य का उद्घाटन कर मनोरंजन करना और साथ ही युगानुकूल संस्कार डालकर सक्रिय बनाना साहित्य का प्रधान उद्देश्य हो गया है। तथा शृङ्गार के लिए नारी के शारीरिक सौंदर्य से अधिक प्रेम-विगलित-हृदय के भाव सौंदर्य का चित्रण होने लगा है; क्रोध का रूप-संस्कार कर व्यंग्य को अपनाया गया है।

रस की दृष्टि से प्रगतिवादी रचनाओ के भावपक्ष के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होती है कि रसवादियो के अनुसार अबाध रूप से रसनिष्पत्ति अथवा रस का परिपाक बहुत कम रचनाओं मे हो पाया है। शृङ्गार, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स और अद्‌भुत को सर्वाधिक प्रश्रय मिला है। आज के कवि रसनिष्पत्ति को ध्यान में रखकर काव्य-रचना नही करते और यही कारण है कि रसवादी निराश होने के लिए विवश हैं। आज का युग विचार प्रधान है। आज की वह कविता जो मात्र भावुकता को जगाने के लिए प्रयत्नशील है विशेष समादृत नहीं हो सकती। उसमे भाव-सौंदर्य के साथ ही नवीन वैचारिक चेतना अपेक्षित है यथार्थ दृष्टिकोण के नित नये प्रयोग पाठक वर्ग को झकझोरते रहते हैं, पुराने मूल्य तेजी से परिवर्तित हो रहे हैं और नवीनता का आग्रह पाठको मे प्रक्षोभ उत्पन्न करने के साथ दृष्टि विस्तार कर रहा है। यह सब प्रगतिवाद द्वारा सामाजिक यथार्थ के व्यापक आयाम का द्वार उन्मुक्त कर दिये जाने पर ही संभव हो सका है। लेकिन स्वयं प्रगतिवाद कुछ ही विषय-वस्तुओं के आसपास चक्कर काटता रह गया है। वैयक्तिक यथार्थ की तो इसने पूरी अवहेलना की जिसके फलस्वरूप प्रयोगवाद का जन्म हुआ। आगे उन सामान्य

विषय-वस्तुओं की चर्चा करना हम आवश्यक समझते हैं जिनके आधार पर अभिव्यक्त भावनाओं तथा विचारों की समानताएँ प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्तियों का स्वरूप ग्रहण कर सकीं।

## शोषक वर्ग

प्रगति युग के शोषक वर्ग में अँगरेज, जमींदार, उद्योगपति, पूँजीपति, महाजन तथा बड़े सरकारी अफसर परिगणित होते है, इनकी स्वार्थ-परायणता और दोहन-वृत्ति के परिणामस्वरूप जन साधारण का जीवन कष्ट और नैराश्य के अंधकार से आच्छन्न हो उठा था।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद लगभग सम्पूर्ण विश्व पर छा गया था और उसके नृशंस शोषण और दमन से त्रस्त मानवता मुक्त होने के लिए तड़प रही थी। भारतवर्ष में उसका राक्षसी रूप बड़ा भयावह था। वह अन्याय, दमन, उत्पीडन, अत्याचार और क्रूरता का प्रतिनिधि बना हुआ था। देश की भोली-भाली जनता का रक्त शोषण कर उन फिरंगियों ने अपने वैभव का प्रासाद खड़ा किया, गरीबों के कौर छीने, अकाल बुलाकर गीदड़-कुत्तों से दम तोड़ती हुई जनता को नुचवाया, हमारी जिंदगी की फुलवारी में आग लगा दी और स्वयं वे सुख लूटते रहे—

जर्जर कंकालों पर वैभव का प्रासाद बसाया।
भूखे मुख से कौर छीनते, तू न तनिक शरमाया।
तेरे कारण मिटी मनुजता माँग माँग कर रोटी।
नोची-श्वान शृगालों ने जीवित मानव की बोटी।
तेरे कारण मरघट सा जल उठा हमारा नंदन।
लाखों लाल अनाथ लुटा अबलाओं का सुहाग-धन।

(विश्वास बढ़ता ही गया—सुमन, पृ० ४२)

बंगाल का अकाल उन्हीं क्रूर विदेशी लुटेरों के शोषण का परिणाम था। उसकी विनाश-लीला के फलस्वरूप लाखों मरे। तीस हजार युवतियों ने वेश्यालय में आश्रय ढूँढा, रवि बाबू का नन्दन-वन अधजली, सड़ी लाशों से पट गया! भाई-भाई लड़े और जिसपर भी वह निकम्मी फिरंगी सरकार हमारा गला काटने के लिए हमारे सिर पर मौत सी दम साधे बैठ रही—

भाई-भाई से जुदा, चिता पर लड़ते हैं
भाई-भाई दो भीरु श्वान-से कायर!

लाखों की रकमें काट रहे हैं, काट रहे हैं
गले करोड़ों के, छिप-छिप कर कायर !
सिर पर सरकार मौत-सी बेदम बैठी है,
चुपचाप मौत-सी पस्त निकम्मी कायर !
(रूप तरंग, रामविलास शर्मा, पृ० ३०)

इस अँगरेजी सरकार ने हमारे निरपराध पंजाब के देशभक्तों पर जो क्रूर प्रहार किया, जलियाँवाला बाग की रंगी हुई धरती उस निर्मम हत्याकांड का इतिहास कभी नहीं भूल सकती। दूसरी बार उन्हीं अँगरेजों द्वारा देश का विभाजन किये जाने के फलस्वरूप साम्प्रदायिक बर्बरता से मानवता जलकर राख हो गई—

देशभक्ति की चिता जल उठी राख हुई मानवता।
गर्म खून की आहुति देने बैठी है बर्बरता।
गोली खाकर मरे यहाँ पर आग बुझाने वाले।
बुझा रहे थे प्यास खून की जनता के रखवाले।
डायर की सन्तान ! खूब रक्षा का भार। सँभाला।
आज पंचनद की धरती पर धधक उठी है ज्वाला।
(रूप तरंग, रामविलास शर्मा, पृ० ७७)

तो हम देखते है कि अँगरेजी शासन हमारे लिए गुरुतम अभिशाप था। उससे मुक्त होने के लिए प्रगतिशील तथा प्रगतिवादी कवियों ने सत्याग्रह से आगे बढ़कर सशस्त्र क्रान्तिपथ का अनुसरण करने की उद्घोषणा की। क्रान्ति की बात बिना अँगरेजों का नाम लिये खुलकर कही गई। भूषण की भाव-रंगिणी और दलितों के दिल की चिनगारी बनने वाली क्रान्ति कुमारी को जगाते हुए दिनकर जी का कवि हुँकार उठा—

उठ भूषण की भाव रंगिणी।
दलितों के दिल की चिनगारी।
युग मर्दित यौवन की ज्वाला।
जाग-जाग री क्रान्ति कुमारी। (रेणुका, पृ० २२)

सोहनलाल द्विवेदी ने हथकड़ी की खनखनाहट सुनी और फिर बंदी के स्वरों में क्रान्ति के उठते हुए आह्वान को भी सुना—

हथकड़ी हैं खनखनाती
बेड़ियाँ हैं झनझनाती

आज वंदी के स्वरों में
क्रान्ति के आह्वान जागे। (पूजागीत, पृ० १११)

निराला ने भी सवा-सवा लाख शत्रुओं को तलवार को घाट उतारने की शक्ति रखने वाले गोविंद सिंह की सतानों से जागकर शेरों की माद में आये सियारों को ललकारा—

सवा-सवा लाख पर, एक को चढ़ाऊँगा
गोविंद सिंह निज नाम जब कहलाऊँगा।
फाग था खेला रण, बारह महीनों में
शेरों की मांद में आया है आज स्यार—जागो फिर एक बार।
(परिमल, पृ० २०२)

गोरी सरकार हमारे नंगे सिरों पर लाठियां बरसाए हमारी झोपड़ी लूटती रहे और हम तमाशा देखते रहे? नहीं, देश के युवा वर्ग को रोजी-रोटी का मोह छोड़कर अब पाञ्चजन्य की फूंक से प्रेरणा लेनी ही पड़ेगी—

छोड़ो यह रोटी का टुकड़ा
अदना चावल का दाना
आओ मोहन शंख बजाओ
पहने केसरिया बाना
भारत यह तरुणों का भारत
नाच उठे अब चुटकी पर
पल में क्या का क्या कर दे फिर
मोहन, तेरी मटकी पर (उमंग, नेपाली, पृ० १०४)

ऐसे भला हमें कौन आजादी देगा? भारत के नौजवानों को स्वयं उसे हासिल करना है—

किसके आगे हाथ पसारे,
कौन हमें है देनेवाला!
अपनी छिनी हुई आजादी,
भारत खुद ही लेनेवाला (वलिपथ के गीत, मिलिंद, पृ० ८९)

आज युगों की दासता को ध्वस्त करने के लिए धधकती आग की चढ़ती जवानी की जरूरत है। कवि नौजवानों से उस अंगार और अल्हड़ जवानी का शृंगार चाहता है—

प्यारे स्वदेश के हित अंगार मानता हूँ
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ। (सामधेनी, दिनकर, पृ० ५६)

स्वतन्त्रता के लिए रणताडव अनिवार्य है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि भारत के प्रत्येक पुरुष क्रुद्ध रुद्र बन जाए और प्रत्येक नारी रणचंडी-सी प्रलय मचा दे—

पुरुष रुद्र बन कर आ जावे,
नारी काली बनकर आवें,
युग-युग से जो रक्त पड़ा है,
वसुधा का खप्पर भर जावे। (अग्निगान, प्रेमी, पृ० १८)

शत्रुओं को पछाड़ने के लिए आजादी के दीवाने को घर-बार की मखमली सेज की सुधि छोड़ देनी होगी और उन्नत ललाट और उभरे वक्ष के साथ आगे बढ़ना होगा—

देखकर तुमको विछौने की गुलाबी सुधि न आये
युद्ध में बढ़ते चले छाती फुला मस्तक उठाये। (लाल चूनर, अंचल, पृ० २६)

भारत के नौजवानों को चन्द्रशेखर आजाद, वीर भगत सिंह की कसम है लाखों शहीदों की कसम है; माँ के दूध की कसम है कि विदेशी ठकुराई से मुक्त होने के लिए हम अपना लहू बहाकर स्वराज्य प्राप्त करें—

कसम तुम्हें आजाद, भगत, जैसे लाखों बलिदानों की!
कसम तुम्हें जननी के दूध की कसम तुम्हें सन्तानों की!
प्राणदान जनयुग लाया है, अपना घर निर्माण करो।
कसम तुम्हें अल्लाह राम की, चेतो लाल विहान करो।
रक्त बहाकर लो आजादी, मिटा बाहरी ठकुराई।
अंगारों, गोली, गोलों पर, लाल पताका फहराई।
(उदयपथ, शील, पृ० ४८)

भारतीय सामंत, देशी राज्य के राजे-महराजे अंगरेजों के सहायक बन गए थे। उन्हें विलासिता की छूट थी, वे मूर्ख जनता से पूजा पाकर फूले नही समाते। धर्म-कर्म की व्यवस्था बहुत दिनों से उनकी रखवाली करती आ रही थी। उन्होंने धर्म के नाम पर खून की नदी बहने दी, अपने समाज का जादू गरीबों पर डाला। ब्राह्मण, लेखक, कवि—सभी ने उन्हीं का गुण-गान किया—

राजे ने अपनी रखवाली की;
किला बनाकर रहा;

बड़ी-बड़ी फौजें रखीं।
चापलूस कितने सामंत आये
मतलब की लकड़ी पकड़े हुए।
कितने ब्राह्मण आये
पोथियों में जनता को बाँधे हुए।
कवियों ने उसकी बहादुरी के गीत गाये,
लेखकों ने लेख लिखे,
ऐतिहासिकों ने इतिहास के पन्ने भरे,
नाट्य कलाकारों ने कितने नाटक रचे,
रंगमंच पर खेले,
जनता पर जादू चला राजे के समाज का।
लोक नारियों के लिए रानियाँ आदर्श हुईं
धर्म का बढ़ावा रहा धोखे से भरा हुआ।
लोहा बजा धर्म पर, सभ्यता के नाम पर।
खून की नदी बही।
आँख कान मूँदकर जनता ने डुबकियाँ ली।
आँख खुली, राजे ने अपनी रखवाली की।

(नये पत्ते, निराला, पृ० २५)

वे राजे-महराजे, सामंत जन सुख-सुषमा के लाल ठहरे; उनका वैभव-विवेक बड़ा ऊँचा है। वे कंकालों के जीवन से क्योंकर परिचित रहेंगे ? वे तो केवल उच्छृङ्खल और मनभरी सुन्दरियों के साथ रास रचाना भर जानते हैं—

तुम सुख-सुषमा के लाल
तुम्हारा है विशाल वैभव-विवेक,
तुमने देखी है मान भरी
उच्छृङ्खल सुन्दरियाँ अनेक
तुम भरे-पुरे, तुम हृष्ट-पुष्ट
ऐ तुम समर्थ कर्ता-हर्ता
तुमने देखा है क्या बोनो
हिलता-डुलता कंकाल एक ? (मानव, भगवतीचरण वर्मा, पृ० ७५)

डॉ० महेन्द्र भटनागर ने अपनी 'देशी रजवाड़े' शीर्षक कविता में उन्हें

प्रतिगामी और जनता का दुश्मन कहकर पुकारा है। वे जनता की लाश पर चढ़कर शासन चलाए जा रहे हैं—

प्रतिगामी जनता के दुश्मन,
जो जन बल के सदा विरोधी,
जिनने जनता के शव पर चढ,
किया अभी तक चौपट शासन। (पृ० ३८)

जमींदार किसानों का खून चूसने वाले जोंक हैं। वे तरह-तरह से उनका शोषण करते हैं, बेगारी कराते है। कभी डिप्टी साहब के नाम पर कभी धर्मकाज अथवा नाच-गान के अवसर पर किसानों को खूब दुहते है। उनके अमले-सिपाही भी किसानो के बीच जाकर रोब-दाब भी गाँठने मे कमी नही चूकते—

जमींदार का सिपाही लट्ठ कन्धे पर डाले
आया और लोगो की ओर देखकर कहा,
"डेरे पर थानेदार आये हैं;
डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है,
एक हफ्ते के अन्दर देना है
चलो, बात दे आओ।" (नये पत्ते, निराला, पृ० ५५)

बेचारे गरीब खेतिहर बलि के बकरे के समान उस सिपाही का मुँह कातर दृष्टि से देखते रह जाते हैं। अपने मालिक की दयनीय दशा देखकर कुत्ते से न रहा गया। वह सिपाही पर भौंकने लगा—

लोगों के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था;
चलते सिपाही को देखकर खडा हुआ,
और भौंकने लगा,
करुणा से बन्धु खेतिहर को देख-देखकर।

धनपतियो की नृशंसता का उल्लेख करते हुए पंत जी लिखते हैं—

वे नृशंस है, वे जन के श्रम बल से पोषित
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित
नही जिन्हे करनी श्रम से जीविका उपार्जित
नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित
शय्या की क्रीड़ा कन्दुक है जिनको नारी,
अहंमन्य वे, मूढ़ अर्थबल के व्यभिचारी!

सुरांगना, संपदा, सुराओं से ससेवित,
नर पशु से भू भार: मनुजता जिनसे लज्जित।
(युगवाणी, पंत, पृ० ३१)

वे कामचोर, आरामतलब तोदियल दस-बीस जनों का खाना अकेले खा जाने वाले वस्तुतः मजदूरों के लिए मौत हैं—

ये कामचोर, आरामतलब
मोटे तोदियल भारी भरकम
हट्टे कट्टे सब डाँगर ऊँघा करते हैं,
हम चौबिस घण्टे हँफते हैं
है भूख बड़ी लम्बी-चौड़ी—
दस-बीस जनों का सब खाना
ये एक अकेले खाते हैं;
दिनभर ही पागुर करते हैं
हम भूखे ही रह जाते हैं। (युग गंगा, केदारनाथ अग्रवाल, पृ० ४)

नगर के सेठ-साहूकार भी चोर और गिरहकट हैं, उनसे किसान खेतिहरों का बचकर आ जाना बड़ा कठिन है। वे चाँदी के टुकड़ों से उनका दाना-खुराक सब लूट लेते हैं—

है बीस कोस पर एक नगर
उस एक नगर में एक हाट!
जिसमें मानव की दानवता
फैलाए है निज राज-पाट,
साहूकारों का भेस धरे
हैं जहाँ चोर औ' गिरहकट;
है अभिशापों से घिरा जहाँ
पशुता का कलुषित ठाट-बाट!
उसमें चाँदी के टुकड़ों के
बदले में लुटता है अनाज,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से
तो चलता है सब राज-काज।
(भैंसा गाड़ी, भगवतीचरण वर्मा, पृ० ७७)

मोदी उसी बेईमानी से धनवान बना, बिना किसी का विरोध किये वैभव मे गर्वोन्नत, अकड़ा-अकडा बैठा रहता है और अपने सामान बेचता है—

यह मोदी की दूकान,
यहाँ बिकता है आटा-दाल ।
नून, तेल, लकड़ी
इन्ही मे पीड़ित दुनिया है जकड़ी,
बेच रहा बैठा हुआ मोदी मोटा तगडा,
अपने वैभव मे गर्वोन्नत और अकडा ।

(एक दिन, भगवतीचरण वर्मा, पृ० ६७)

महाजन से जिस किसान अथवा खेतिहर ने कर्ज लिया बस समझ लीजिये उसकी जमीन जायदाद सब गई । महाजन भला व्याज छोडना क्या जाने ? घर द्वार बिकने के साथ ही बैलो की जोडी बेचारे किसान की कुर्क होकर रही । अभी भी खूंटे से खुलते बैल खुली आँखो मे चित्रित हैं—

बिका दिया घर-द्वार, महाजन ने न व्याज की कौड़ी छोडी
रह रह आँखों मे घूमती वह कुर्क हुई बरधो की जोडी ।

(युगवाणी, पन्त, पृ० २५)

वह महाजन बुद्धि मे तो गोवर गणेश है, किन्तु पैसा जोडने मे उतना ही चुस्त चालाक । आर्थिक संकट से त्रस्त ग्रामीणों के बीच वह मस्त महाजन सिर पर नारियल जैसे धर्म का मुरेठा बाँधे, गोरी जैसी बस्ती की गोद मे गणेश-सा बैठा नाग-मुखी थैली खोले जीभ लार-लार कर मीठी-मीठी बात बनाता है और कर्ज पर रुपया बाँटता है—

वह समाज के त्रस्त क्षेत्र का मस्त महाजन
गौरव गोवर-गनेश व्यजन-सा मारे आसन
नारि-केलि-से सिर पर बाँधे धर्म मुरेठा,
ग्राम-बधूटी की गोरी गोदी पर बैठा,
नागमुखी पैतृक-सम्पत्ति की थैली खोले
जीभ निकाले बात बनाता करुणा घोले
व्याज-स्तुति से बाँट रहा है रुपया-पैसा
सदियों पहले से होता आया है ऐसा ।

(लोक और आलोक, केदारनाथ अग्रवाल, पृ० ३५)

संक्षेप में यही शोषक वर्ग का चित्र है ।

## शोषित

जिनको श्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता, जो कठिन मिहनत करने के बावजूद भूखे रह जाते है, वे शोषित हैं। वे शोषित हैं, जिन पर धनपति, जमींदार तरह-तरह का अत्याचार करते है, जिनकी रोटी और बेटी दोनों की लूट होती है, जीवन मे सुख और विकास की सुविधा जिनको छीन ली जाती है। शोषित वर्ग में मजदूर-किसान, निम्न मध्य वर्ग, भिखमंगे और श्रमजीवी आते है।

गरीब किसान और खेतिहर मजदूर धरती जोतकर संसार के खाने के लिए अन्न उपजाते हैं किन्तु स्वयं वे अपना पेट नही भर पाते। सभ्य संसार धूर्त्तता से उन्हे दरिद्र कर देता है। बैल की तरह वे सब दिन खटते है लेकिन खाने के समय सूखी रोटी ही नसीब होती है, वह भी अपर्याप्त मात्रा में और कभी-कभी उतना भी नही। वे बेचारे सभ्यता और संस्कृति क्या समझें, परम्परागत रूढ़ियो से ग्रस्त रहकर ममत्व की मूर्ति बने मूर्खता का जीवन बिताते है—

युग युग का वह भारवाह, आकटि नत मस्तक,
निखिल सभ्य संसार पीठ का उसके स्फोटक।
वज्र मूढ़ जड़भूत, हठी, वृष बांधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियो का चिर रक्षक।

(युगवाणी, पन्त, पृ० ३३)

वस्तुतः सभ्य ससार उनके लिये पीठियाँ घाव बन गया है। वे बेचारे घास छीलकर कुट्टी काटकर गाय भैंस पालते है तो भी दूध-घी उन्हे मुअस्सर नही—

ऋण-शोधन के लिए दूध, घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे,
बूंद-बूंद बेचेंगे, अपने लिए नही कुछ छोड़ेंगे।

(रेणुका, दिनकर, पृ० १२)

उनके घर कच्चे हैं, खंडहर-से घरों में असफलता का धुंधलका छाया हुआ है। पशु के समान शोषण की चक्की मे पिसाते रहे है और उनकी औरतें धनपतियों के गुलाम पैदा कर रही हैं। पैदा होना और मर जाना यही तो उनके भाग्य मे लिखा है—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे
कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से
है उठे हुए कुछ कच्चे घर।

मैं कहता हूँ खड्हर उसको
पर वे कहते है उसे ग्राम,
जिसमे भर देती निज धुंधलापन
असफलता का सुबह्-शाम
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ
नारियाँ जन रही है गुलाम,
पैदा होना, फिर मर जाना,
बस यह लोगों का एक काम।

(मैंसागाडी, भगवतीचरण वर्मा, पृ० ७५)

धरती के मालिक इस किसान के भाग्य का जुआ बैलो के कन्धो से बँधा है। और तीखी और तपी हवा खेतो मे उसके तन का खून चाटती रहती है—

यह धरती है उस किसान की
जो बैलो के कन्धो पर,
बरसात घाम में
जुआ भाग्य का रख देता है
खून चाटती हुई वायु मे।

(युग की गंगा, केदारनाथ अग्रवाल, पृ० ४४)

मुट्ठियों में जीवन का विश्वास बाँधे, प्राणों मे रुँधे गीत भरे, जलती दोपहरी मे श्रम से चूर तन को ताने खाली मन वह मजबूती से कुदाल चलाता जाता है—

हाथ हैं दोनो सधे से,
गीत प्राणो के रुँधे से,
और उसकी मूठ मे विश्वास
जीवन के बँधे-से
धकधकाती धरणि थर-थर
उगलता अंगार अम्बर,
भुन रहे तलुवे, तपस्वी-सा
खड़ा वह आज तनकर,
शून्य सा मन,चूर है तन
पर न जाता वार खाली
चल रही उसकी कुदाली। (प्रलय सृजन, सुमन, पृ० २१)

प्रगतिवाद ने जिन कृषकों के प्रति गहरी सहानुभूति दिखलाई है वे वस्तुतः कृषक श्रमिक हैं, ऐसे खेतिहर है जो दूसरों से जमीन बटाई या ठीके की शर्त पर लेकर खेती करते हैं अथवा जिन्हें दो-चार-दस कट्ठा ही जमीन अपनी है।

मजदूरों की जीवन-चर्या की भी एक झाँकी देखिए—

खाते हैं पेट की थैली मे गाड़ते,
रोटी के टुकड़ों को दाँत से काटते
माँजते हैं बरतन,
नगी ही धरती पर सोते हैं
काँखते-हाँफते
रोज की बदबू मे सड़ते हैं, दुनिया की।
(युग की गंगा, केदारनाथ अग्रवाल, पृ० ३६)

वे बेचारे सन्ध्या के झुटपुटे में डगमग चरण धरते हुए घर की ओर लौटते हैं, उनके अंग-अंग श्रम से शिथिल हो गये हैं—

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन ! भारी पग ! (युगपथ, पन्त, पृ० २८)

वस्तुतः उनके लिए जीवन भारस्वरूप हो गया है, पैर आगे धीरे-धीरे उठते हैं, समस्याओं के बोझ से वे दबे हुए हैं।

उधर 'निराला' मजदूर युवती को इलाहाबाद के पथ पर दोपहर में गिट्टी तोड़ते हुए देखते हैं, उसका मार खाकर भी न रोने वाला चेहरा उनमें असीम करुणा जगा देता है।

## वर्ग संघर्ष

प्रगतिवाद का प्रधान उद्देश्य शोषित वर्ग में वर्ग चेतना उत्पन्न कर उसे शोषक वर्ग के विरुद्ध संघर्ष के लिए प्रेरित करना है। 'निराला' ने शोषितों का आह्वान करते हुए लिखा है—

जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ।
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली

खोलेंगे अँधेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ। (वेला, पृ० ७०)

बड़े मूजी और धनी को सर करने के लिए शोषितों को जमाने की परवाह नहीं करनी होगी—

अगर जरें को जर कर तू, बड़े मूजी को सर कर तू,
जमाने से बिगड़ कर चलता हो वह नाम रहने दे।
न पड़ जाये तो क्या परदा, न गड़ जाये तो क्या आँखें,
धनी से वाम होने को धनी का धाम रहने दे।
(बेला, पृ० ६५)

आज आवश्यकता है शोषित वर्ग के प्रतिनिधि हनुमान की, जो पुनः एक बार ध्वज उठाकर राक्षसों का संहार करे। निम्न जातियों के अथवा उच्च जाति के शोषित लोग हैं उन्हे रक्त बीज के वंश को पीस कर मिटा देना है, जिससे कि वे अपना स्वर्ग स्थापित कर सकें—

हनुमान फिर ध्वजा उठाओ,
कोरी, काछी, कुरमी, पासी, कोल, किरात, अहीर, मुराई।
ठाकुर, ब्राह्मण, नाई, धोबी, तेली, गुजर, कंजर, बारी।
तुम सबकी है जात एक ही, जात एक ही पाँत एक ही।
तुम गरीब हो तुम शोषित हो,
अरे तुम्हारा वर्ग एक है, और तुम्हारा स्वर्ग एक है।
अपना स्वर्ग बनाओ अपने हाथों।
रक्त बीज का वंश, तुम्हारे श्रम को लेकर बेच रहा है बाजारों में
ओ चक्की के पाट, पीस दो रक्त बीज का,
है अन्तिम संघर्ष नये निर्माण को। (उदयपथ, गीत, पृ० ३४)

श्रमजीवियों के रक्त से सोने की लंका बसाने वाले पूँजीपतियों की सभ्यता नरमेधशील है। दलितों के लहू से गीले गालवाली उस बाघिन का अवश्य विनाश होगा, मनुजों की पाप-लंका एक दिन अवश्य धूल में मिलकर रहेगी—

ओ दनुज धात्री ! धारिली मे
दुसह नरमेधशीले
हो रहे हैं रुधिर से
बाघिन ! तुम्हारे गाल गीले

× × ×

जयति मानव ! जयति मानव !
एक तुमुल पुकार होगी
और वह दानव दलों की
पाप लंका छार होगी। (मराली, केसरी, पृ० १३)

प्रगतिवादी कवि अन्यायी का दर्पदाह और महलों का ध्वंस देखने को आतुर है। वह युग के चित्रकार से कुछ वैसा ही चित्र भी आँकने को कहता है—

कर मूर्त्तिमान रेखाओं में
तू अन्यायी का दर्प-दाह
अंकित कर महलों को ढाता
झोपड़ियों का क्रन्दन-कराह। (प्रलयवीणा, सुधीन्द्र, पृ० ६८)

इतना ही नहीं वह कंकालों की हड्डियों को चक्की में धनागार, वैभव-विहार सभी को पिसता हुआ देखना चाहता है—

तू ककालो की हड्डी की
चक्की मे पिसते दिखलाना
वे धनागार, वैभव-विहार
यदि तू है युग का चित्रकार। (प्रलय वीणा, पृ० ६८)

श्री मिलिंद जी दलितों से यह कामना करते हैं कि वे समता, न्याय और सत्य के सैनिक बन जाएँ और शोषकों को पराजित कर जग मे नवजीवन का संचार करें। जो श्रम करेगा, अन्न, वस्त्र, घर द्वार, शासन, संस्कृति सभी का वही मालिक माना जाएगा—

हम शोषित सैनिक समता,
न्याय सत्य के बन जावें,
करे परास्त शोषकों को हम,
जग मे नवजीवन लावे !

जिसका श्रम हो, भूमि उसकी
अन्न, वस्त्र, घर हो उसका,
शासन उसका, संस्कृति उसकी,
नवयुग का स्वर हो उसका।

ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें वर्ग-संघर्ष को बलवान स्वर मिला है। सच पूछा जाए तो वर्गचेतना को जगाना ही प्रगतिवाद का प्रधान उद्देश्य रहा है। इसे

प्रचार-साहित्य की ही भूमिका निभानी पड़ी है। फलतः उसमें स्थायी काव्य मूल्य का अंकन बहुत कम हो सका। लेकिन प्रगतिवाद ने सामाजिक यथार्थ के चित्रण का द्वार खोलकर हिन्दी साहित्य के समक्ष प्रगति की अनंत संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त कर दिया है, इसे सभी स्वीकारते हैं। प्रगतिवाद की प्रगतिशीलता और समाजिक यथार्थ-चित्रण के निकट के सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए श्री नरेन्द्र शर्मा ने अपने 'मिट्टी और फूल' के निवेदन में लिखा है कि वह कवि प्रगतिशीलता के उतना ही निकट समझा जायगा जो वस्तुस्थिति और उसकी छाया में अकुलाने वाली अपनी इकाई की सक्रिय सामर्थ्य और सीमाओं तथा वस्तुस्थिति और इकाई के घात-प्रतिघातपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध और तज्जनित गतिशीलता के नियम को जितना ही अधिक समझता और व्यावहारिक जीवन में ग्रहण करता है।" प्रगतिवाद का यथार्थ प्रकृत यथार्थवाद की प्रतिकृति नहीं अपितु वह अपने यथार्थ चित्रण में भी विद्रोह-भावना का वह सूत्र ढूंढ़ने का प्रयास करता है जो पीड़ित वर्ग के मन में प्रच्छन्न है। अस्तु, शर्मा जी के अनुसार "अपनी सक्रिय-शक्ति से प्रतिकूल वस्तुस्थिति को बदलने, अर्थात् उसे सामाजिक प्रगति के अधिक अनुकूल बनाने की लगन और जर्जर संस्कारों से अपनी मुक्ति को नवनिर्माण में सार्थक बनाने से ही कवि प्रगतिशीलता की ओर अग्रसर हो सकता है।"

हमने शोषित और शोषक वर्ग के चित्रण में भी यथार्थ का दर्शन किया है और साथ ही यह भी देखा कि शोषितों के प्रति सहानुभूति और शोषकों के प्रति घृणा का भाव सक्रिय है। वस्तुतः प्रगतिवाद सर्वहारा का पक्षधर है।

## लोक जीवन

प्रगतिवाद ने लोक-जीवन को यथार्थ रूप में ग्रहण कर कविता में आषाढ़ की पहली वर्षा से मिट्टी की उठने वाली सोंधी गंध भर दी है। सर्वप्रथम हम उल्लास की एक झलक देखें—

> उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन,
> औ, हुड़ुक, घुड़ुकता ढिम ढिम ढिन
> मंजीर खनकते खिन खिन खिन
> मदमस्त रजक, होली का दिन
> लो छन छन छन छन
> छन छन छन छन
> थिरक गुजरिया हरती मन। (ग्राम्या, पन्त, पृ० ३१)

गाँव में होली के अवसर पर ढोलक बजाते, मंजीरा खनखनाते, उछलते-गाते

नाचते हुए धोबियों का उल्लास उपर्युक्त पंक्तियों में बड़ी चित्रमयता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। गरीब गाँव की भी एक झाँकी प्रस्तुत है—

गाँव, इसमें झोपड़ी है, घर नहीं है,
झोपड़ी के फटकियाँ हैं, दर नहीं है,
धूल उड़ती है धुएँ से दम घुटा है,
मानवों के हाथ से मानव लुटा है।
रो रहे हैं शिशु कि माँ चक्की लिए है,
पेट पापी के लिए पक्की किए है,
फट रही छाती। (गीतफरोश, भवानी प्रसाद मिश्र, पृ० ३६)

देहात में ऐसे बहुत गाँव मिल जाएँगे, जिनमें झोपड़ियाँ ही झोपड़ियाँ दिखलाई देंगी, कोई घर ईंटों से तैयार नहीं मिलेगा। उन झोपड़ियों में द्वार नहीं, बाँस की फटकियाँ मिलेंगी। एक ही झोपड़ी में खाना तैयार करना, सोना, रहना, तेज हवा के साथ टट्टियों की फाँकों से आनेवाली धूल फाँकना, धुएँ से बच्चे-जवान-सभी का दम घुटना, तिस पर चक्की पर बैठी माता का बिलखते बच्चे को छोड़ जी तोड़ परिश्रम करना—दैन्य लोक-जीवन का यह संश्लिष्ट चित्र कितना मार्मिक है!

नगर की सड़ाँध को भी प्रगतिवाद ने प्रदर्शित करने का प्रयास किया है—

अंध वासना में नर
खूब पिये
रंडियों के साथ खोया
नर्क में डूबा
रात है
सत्य ज्ञान
उच्चादर्श
गन्दी मलमूल की नालियों में बहते हैं
विश्व का निकृष्ट अंग मूलगंज
रात है। (युग की गंगा, केदारनाथ अग्रवाल, पृ० ३२)

देहात का मेला कुछ अपनी विशिष्टता रखता है जिसकी तुलना नगर से नहीं की जा सकती। गंगा के किनारे बालू का मैदान दो-चार दिनों के लिए ग्राम्य सभ्यता की रंगीन झाँकी से जगमगा उठता है। लोग दूर-दूर से बैलगाड़ी जोतकर बाल-बच्चों के साथ मेला पहुँचते हैं,—ये तड़के रात के पिछले पहर चौदहवीं की चाँदनी में

बैलगाड़ी खोलते हैं। बैलगाड़ी कोसों फैले हुए ऊसर मैदान में गहरे गलियारे से घंटियों की आवाज भरती हुई आगे बढ़ी चली जाती है। जाड़े का भोर ठहरा, बच्चे रजाई तले ऊंघते रहते हैं। बैल आंखे मूंदे सपना देखते बढ़ रहे हैं। रास्ता उनका जाना-पहचाना है—

पिछला पहर रात का, पर आकाश में
छिटकी है अब भी चौदस की चाँदनी;
बिना वृक्ष-झाड़ी के, घेरे क्षितिज को,
ऊसर ही ऊसर कोसों फैला हुआ।
चला गया है उसे चीरता बीच से
गहरे कई खुडों का गलियारा बड़ा,
कतकी का ठर्रा जिस पर है जा रही
घुंघरू की ध्वनि करती इस सुनसान में
पाँति बाँध कर धीरे-धीरे लाढ़ियाँ।
उड़ते पीछे उजले बादल धूल के।
तने हुए तंबू भीतर पैरा बिछा
सुखी बाल-बच्चे बैठे हैं ऊंघते,
गरम रजाई में निश्चिन्त किसान भी
बैठा बैलों की पगही ढील किये।
घुंघरू की मीठी ध्वनि करते जा रहे
फटी-पुरानी झूलें ओढ़े बैल वे,
पहचानते लीक हैं, पहले की तरह।
स्वप्न देखते धीरे-धीरे [illegible],
सकर घटी कर पार, वहाँ [illegible],
सर-सर करती गंगा की [illegible], वहाँ
रंग-बिरंगा कोलाहल [illegible]
बालू पर मेला है [illegible]।

([illegible], रामविलास शर्मा, पृ० [illegible])

महाकवि 'निराला' ने [illegible] के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं। [illegible] 'डिप्टी साहब आये' शीर्षक कविता [illegible] में जमींदार के [illegible] जवानों द्वारा सत्य वचन के लिए [illegible] उपस्थित करती है, यह बड़ा [illegible] है। [illegible] कहता है कि [illegible]

किन्तु जमींदार के अमले उसे रघुवर की कोई नहीं बताकर अधिकार से वंचित क
चाहते हैं। जमींदार का पिट्ठू गोड़इत जमींदार के पक्ष में ही बयान देने का मु
रखता है—

गोड़इत ने पैर रोपा,
"जमींदार" के हैं हम,
मालिक का भला जहाँ, वहाँ है हमारा भला।

इस प्रकार का दास्य भाव आज भी देहाती लोगों में भरपूर मिलेगा। हाँ, जब बदलू ने गोड़इत की बात सुनी तो उसे गुस्सा आ गया और उसने उठकर प्रेमीज गोड़इत की नाक पर एक घूँसा तानकर मारा। फिर क्या था, ग्रामीणों के डरपो मन से आतंक का पर्दा फट गया और सभी सही-सही कहने को उतारू हो गये—

जमकर बदलू ने बदमाश को देखा, फिर
उठा क्रोध से भर-कर
और एक घूँसा तानकर नाक पर दिया।
गोड़इत प्रेमी जन था,
जमीं घूमने लगा।
तब तक बदलू के कुल तरफदार आ गये—
मन्ने कुम्हार, कुल्ली तेली, भँकुआ चमार।
सच्चू नाई, वली कहार, कुल टूट पडे।
कुछ नहीं हुआ, कुछ नही हुआ, होने लगा।
बदल गया रावरंग
सब लोग सत्य कहने के लिए तुल गये।
तब तक सिपाही थानेदार के भेजे हुए
आये और दाम दे-देकर माल ले गये।
सारा गाँव बाग की गवाही में बदल गया,
सही-सही बात कही। (नये पत्ते, पृ० ८८)

संक्षेप मे प्रगतिवाद में चित्रित यही लोक-जीवन की झाँकी है।

## प्रगतिवाद में राष्ट्रीयता

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार "हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन राष्ट्रीयता की ही उपज रहा है।" (शुभांशसा—प्रगतिवादी काव्य—उमेश चन्द्र मिश्र) तो स्वाभाविक है कि प्रगतिवाद में राष्ट्रीयता की भावना

को सबल अभिव्यक्ति प्राप्त होती । लेकिन कतिपय साम्यवादी कलाकारों के विश्ववादी दृष्टिकोण से सशंकित होकर ही प्रायः प्रगतिवाद की आस्था से संबंधित प्रश्न उठाये जाते हैं। कुछ घटनाचक्र भी ऐसा चला कि आशंका प्रमाण का बल पा गई। सन् '४२ की जनक्रान्ति में साम्यवादी रूस की अस्तित्व रक्षा के नाम पर शामिल नही हुए। लेकिन इसके पीछे वास्तविकता यही है कि साम्यवादियों ने विश्व में सर्वहारा वर्ग द्वारा स्थापित एकमात्र समाजवादी शासन की रक्षा को सर्वोपरि महत्व दिया; क्योंकि:वे समझते थे कि रूस में समाजवाद का दीप यदि बुझा दिया गया तो फिर बहुत वर्षों के लिए सम्पूर्ण विश्व का सर्वहारा वर्ग अनाथ रह जाएगा और तब गुलाम भारत भी साम्राज्यवादियों के चंगुल से मुक्त नही हो पाएगा अतः उनके सोचने के ढंग से दूसरो का जो मतभेद हो, किन्तु उसके आधार पर राष्ट्र के प्रति उनकी श्रद्धा के आगे प्रश्न-चिह्न नही लगाया जाना चाहिये।

राष्ट्रीयता का मतलब है अपने देश की मिट्टी से देशवासियों तथा देश की संस्कृति से प्रेम करना।

प्रगतिवाद मे भी यह राष्ट्र-प्रेम अभिव्यंजित हुआ है। यहाँ तक कि उन साम्यवादी लेखकों को देश की ध्वजा तिरंगा से उतना ही प्यार है जितना और किसी को हो सकता है। श्री रामविलास शर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

सुनी नही पदचाप वहाँ कलकत्ते में लाखो की।
कल के भूले मिले खून की प्यास मिटी आँखो की।
झुका-यूनियन-जैक तिरंगा फिर ऊँचा फहराया।
बाँध तोड़कर देखो कैसे जन-समुद्र लहराया।
टूट रहा है दुश्मन ने अंतिम घेरा जो डाला।
भले पंचनद मे धधकी हो आज मृत्यु की ज्वाला।

(रूपतरंग, पृ० ७८)

देश-विभाजन के पश्चात् पंजाब में होने वाले हत्या-काड से पीड़ित कवि मन इस उपलब्धि को श्रद्धा और विश्वास के साथ अभिव्यक्त करता है कि जो हो, हमारा झंडा ऊँचा लहरा उठा है और एक दिन वह भी आएगा जब कि साम्प्रदायिक लपटों में झुलसता हुआ पंचनद जीवन की हरियाली और प्रभात की रश्मिल चेतना से समन्वित होकर मुस्कुरा उठेगा।

'और भी ऊँचा उठे झंडा हमारा' शीर्षक कविता मे कवि का देश-प्रेम और सफलता के साथ अभिव्यंजित हुआ है—

दासता के प्रलय-पारावार से फिर
यह हमारा विश्व ऊपर उठ रहा है।
देवता की कल्पना-सुन्दर उँगलियों पर न उठकर,
यह करोड़ों कामकाजी बाहुओं पर
युगों और शताब्दियों के बाद ऊपर उठ रहा है।
वेद पाठी ऋत्विजों ने
पर्वतों को फोड़कर बहते नदी-नद-निर्झरों का स्वर सुना था।
सूफियों ने, संत कवियों ने यहाँ
जन-एकता के गीत गाये।
फिर उन्हीं स्वर की लहरियों पर हमारा
देश ऊपर उठ रहा है। (रूपतरंग, पृ० ७८)

इन पंक्तियों में विगत युगों की सांस्कृतिक उपलब्धियों से ऊर्जास्वित भारत की नवीन चेतना का स्वागत करते हुए कवि भविष्य के प्रति पूर्णतः आस्थावान हो उठा है।

श्री नागार्जुन को भी अपने देश का चप्पा-चप्पा प्यारा है—

खेत हमारे, भूमि हमारी, सारा देश हमारा है,
इसीलिए तो हमको इसका चप्पा-चप्पा प्यारा है।[1]

कवि भारत की एकता बनाए रखने के लिए किसी से भी कम चिन्तित नहीं। वह प्रांतीयता को इसका शत्रु समझते हुए दिवंगत नेताओं के प्रति सभी प्रान्तों में समान रूप से श्रद्धा प्रकट करने की आवश्यकता स्वीकार कर प्रश्न करता है—

स्थापित नहीं होगी क्या
लाला लाजपतराय की प्रतिमा मद्रास में,
दिखाई नहीं पड़ेंगे लखनऊ में सत्यमूर्ति
सुभाष और जे० एम० सेन गुप्त क्या सीमित रहेंगे
भवानीपुर और शाम बाजार की दुकानों तक?
तिलक नहीं निकलेंगे पूना से बाहर?
(प्यासी और पथराई आँखें, पृ० १३)

श्री रांगेय राघव के 'अजेय खंडहर' में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों का सम्मिलन हुआ है। राष्ट्रीयता को व्यक्त करने वाली इन पंक्तियों को देखिए—

१. हंस : मार्च '४८—अंक ६, पृ० ४३०।

जाग
मेरे हिन्द
तेरी धूलि के जर्रे
बने सम्राट के अभिमान
फिर उड़े तेरी पताका
गूँज कर टकरा उठे थे
प्रबल तेरे गान (अजय खंडहर, पृ० ११५)

इनके अतिरिक्त प्रगतिशील कवियों की कृतियों से तो अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनमें प्रबल राष्ट्रीय भावनाएँ मुखर हुई हैं। पंत जी की 'भारतमाता ग्राम-वासिनी !' निराला की 'भारती, जय-विजय करे', श्री शिवमंगल सिंह सुमन के 'जागरण' तथा दिनकर के 'हुँकार' की अधिकांश कविताएँ राष्ट्रीयता को बलवान अभिव्यक्ति देने वाली हैं। लेकिन यह स्मरण रहे कि प्रगतिवाद की राष्ट्रीयता कभी भी अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध नहीं गई है।

प्रगतिवाद की राष्ट्रीयता को 'सर्वहारावाद' और 'जनवाद' कहकर भी पुकारा गया है। डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—प्रगतिवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीयता का भी समावेश है, परन्तु वह साधारणतः दक्षिण-पक्षीय राष्ट्रीयता से भिन्न है। पराधीनता के उन्मूलन आदि प्रश्नों पर प्रगतिवादी शक्तियों का लक्ष्य भी वही है जो दक्षिण-पक्षीय शक्तियों का, परन्तु उनकी विधि में अन्तर है। इनकी विधि पूर्णतः क्रांति की विधि है जिसका आधार एकांत भौतिक है। वह अहिंसादि आदर्शमय साधनों को कोई मान्यता नहीं देती। इसके अतिरिक्त प्रगतिवाद में राष्ट्र केवल सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है, अन्य वर्गों के प्रति उसे सहानुभूति नहीं। अतएव प्रगतिवाद का राष्ट्रवाद सर्वहारावाद अथवा जनवाद का ही पर्याय है।" (आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—नगेन्द्र, पृ० १०३) किन्तु डॉ० नगेन्द्र के इस विचार से कि प्रगतिवाद का राष्ट्रवाद सर्वहारावाद का पर्याय है—पूर्ण सहमति व्यक्त करने में मुझे कुछ हिचक होती है। राष्ट्र-भक्ति के गीत लिखते समय प्रगतिवादी कवि भी राष्ट्र की इकाई को खंडित कर नहीं देखते प्रत्युत् उनके समक्ष सम्पूर्णता के साथ ही राष्ट्र का व्यक्तित्व उनकी भावना का आलम्बन बनकर उपस्थित होता है। यह दूसरी बात है कि अधिकांश जनता के हित के लिये वे मुट्ठी भर पूंजीपतियों की अपार सम्पत्ति पर सम्पूर्ण राष्ट्र का आधिपत्य चाहते हैं। वास्तविकता यह है कि वे राष्ट्र के वर्तमान रूप में परिवर्तन चाहते है। वे भावना में बहकर इसके वर्तमान रूप को आदर्श नहीं मान सकते।

उनकी दृष्टि में राष्ट्र का आदर्श रूप वर्गविहीन ही हो सकता है, जिसकी प्राप्ति के लिए अभी अनवरत संघर्ष करना पड़ेगा।

## अन्तर्राष्ट्रीयता

ऐसे तो हमारे प्राचीन ऋषि-मनीषियों ने "वसुधैव कुटुम्बकम्" और "एकोऽहं द्वितीयोनास्ति" का मन्त्र फूंककर विश्व-भावना को प्रतिष्ठित किया था, किन्तु अपनी राष्ट्र-ध्वजा को सम्पूर्ण जगत पर फहराते देखने की अभिलाषा अधिक प्रबल थी। प्रगतिवाद के अभ्युदय के पूर्व तक राष्ट्रीय भावना को बढ़ावा देने वाले साहित्य में भारत के उस गौरवपूर्ण अतीत की चर्चा विशेष उत्साह और कचोट के साथ की गई जिसमें भारत का साम्राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था। उस समय अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर कुछ नहीं लिखा जा रहा था। सच पूछा जाये तो रूस की यह सफल साम्यवादी क्रांति थी जिसने हिन्दी जगत् में अन्तर्राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति के नये मार्ग को उन्मुक्त कर दिया। स्वतन्त्रता और सर्वहारा के निमित्त आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक समता की प्राप्ति के लिये संघर्षरत सम्पूर्ण मानवता के लिये एक प्रेरक शक्ति के रूप में रूस की साम्यवादी सरकार का उदय हुआ और उसी के द्वारा मार्क्स का अन्तर्राष्ट्रीयता से सम्बन्धित सिद्धांत व्यापक समर्थन प्राप्त कर सका। अतः यह स्वाभाविक था कि उत्साह में आकर नरेन्द्र शर्मा ने द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर लाल रूस के दुश्मन को तमाम दुनिया का दुश्मन बतलाया—

लाल रूस है ढाल साथियों सब मजदूर किसानों की।
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।

नरेश कुमार मेहता ने साम्राज्यवाद की बेड़ियाँ तोड़ने वाले रूस को यौवन की भूमि कहकर सम्मानित किया—

यह यौवन की भूमि सोवियत,
जहां मनुज की, उसके श्रम की होती पूजा।
पूंजी औ' साम्राज्यवाद की तोड़ बेड़ियाँ,
हाथों में नवजीवन की उल्काएँ लेकर
मनुज खड़ा है कुतुब सरीखा। (दूसरा सप्तक, पृ० १३३)

हमारे देश के साहित्यिकों के लिये चीन के उस समय के माओत्से-तुङ्ग कम प्रिय नहीं थे। उन्होंने करोड़ों चीनियों की पूंजीवादी शासन से मुक्ति के लिये

सशस्त्र क्रांति का आह्वान किया और उसका उनके द्वारा सफलतापूर्वक संचालन भी हुआ। उस माओ के अथक प्रयास और अपूर्व प्रतिभा के बल पर ही चीन में दलितों के बन्धन टूट सके—

तुम थे माओ, जीवन के सौ अंकुर फूटे,
बन्धन टूटे, दलितों के गौरव-धन लूटे।

(दिगन्त, त्रिलोचन शास्त्री, पृ० ६०)

शिवमंगल सिंह सुमन ने चीन के जागरण में एशिया की तरुणाई को अगड़ाई लेते देखा—

पुरवय्या कह गयी पड़ोसी चीन जगा है
नव प्रभात की लाली में सब देश रंगा है।
खेतों खलिहानों में उमड़ रही तरुणाई।
आसमान छू रही एशिया की अंगराई।

(विश्वास बढता ही गया, पृ० १०३)

अपने 'उदयपथ' में कवि शील ने रूस और चीन को नये विचार, नये जीवन का इतिहास बताते हुए लिखा है—

रूस चीन इतिहास बन गया, नये विचार नये जीवन का,
अब एटम निर्माण करेगा, सुखमय सत्य स्वप्न यौवन का।
जबड़े चीर जंगखोरों के, विश्व शांति ने शीश उठाया
मानवता पर नई जिन्दगी का नवीन आँचल लहराया।

शमशेर बहादुर सिंह ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीयता को अधिक विस्तार देते हुए समदर्शिता का परिचय दिया है—

मुझे अमरीका का लिबर्टी स्टैचू उतना ही प्यारा है
जितना मास्को का लाल तारा
और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल
मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं
मैं काशी मे उन आर्यों का शंखनाद सुनता हूँ
जो वोल्गा से आये
मेरी देहली में प्रह्लाद की तपस्याएँ दोनों दुनियाओं के चौखट पर
युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं।

(कुछ और कविताएँ, पृ० २०)

अमरीका का लिबर्टी स्टैचू, मास्को का लाल तारा, पेकिंग का महल, मक्का, मदीना, काशी—ये सभी कवि के लिये समान रूप से प्रिय हैं।

विश्व की सम्पूर्ण मानवता को युद्ध की आग में झोंकनेवाले पूँजीवादी देश होते हैं; क्योंकि पूँजीवाद बाजार की टोह में साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेता है। उसकी मनोवृत्ति को स्वर देते हुए श्री नरेन्द्र शर्मा ने लिखा है—

कब लाखों को जानें लेकर अपने लाख बनाऊँ ?
कब लाखों के घर उजाड़कर अपना घर भर पाऊँ ?
मानवता की नींव हिलाकर अपने पाँव जमाऊँ;
कब अनगिनती दीप बुझाकर दीपावली मनाऊँ ?
लोलुप मन-मकड़ी दिन गिनता, बिनता ताने-बाने,
जब से भावी महायुद्ध की खबर लगी है आने।

(शांतिलोक, पृ० २६)

इतने ही उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रगतिवाद को नवीन विषय-वस्तु अन्तर्राष्ट्रीयता ने लोगों की दृष्टि को विस्तार प्रदान कर दीन-दुखियों का बड़ा उपकार किया है।

## नारी

लोगों का अनुमान है कि एक युग ऐसा भी था जब कि नारी नर समाज पर शासन करती थी। सभ्यता के उस प्राथमिक उन्मेष काल को हम 'मातृसत्ताक युग' के नाम से पुकारते हैं। वैदिक युग में भी नारी को समाज में अनेक अधिकार प्राप्त थे। सामन्तकाल नारी के लिये पराधीनता की जंजीर लेकर आया। मानवी योनि मात्र रह गई। आज तक वह पुरुष की भोग की वस्तु बनी हुई है। समाज उसे आज भी अनेक बन्धनों में जकड़े हुए है।

छायावाद ने नारी को देखने के लिये आदर्शवादी दृष्टि प्रदान कर इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया, किन्तु इससे समस्या का समाधान न हो सका; क्योंकि नारी को 'देवी', 'श्रद्धा' आदि अच्छी संज्ञाओं से ही सन्तोष करना पड़ा, वह इड़ा के रूप में सम्मानित हो सकी। पुरुष के सभी अत्याचारों को वह चुपचाप सहती हुई वेदना की प्रतिमा बनी रहे, इसी में उसकी गरिमा की रक्षा दर्शायी गई।

प्रगतिवाद की दृष्टि आदर्श की रंगीनी से बहुत हद तक मुक्त तथा यथार्थवादी थी, अतः प्रगति-काव्यों में नारी पुरानी मान्यताओं से दूर अपने प्रकृत रूप में

चित्रित हुई है। क्रांति की चिनगारी बनने के लिये भी उसका आह्वान किया गया —

कर पदाघात अब मिथ्या के मस्तक पर
सत्यान्वेषण के पथ पर निकली नारी!
तुम बहुत दिनों तक बनी दीप कुटिया का,
अब बनो क्रांति की ज्वाला की चिनगारी।

(भूमि की अनुभूति, मिलिन्द, पृ० २६)

यह नारी-जाति का अपमान है कि उसे भोग की वस्तु समझकर कविता में प्रेम की भीख माँगने की बात की जाये। उसे फूल, तितली और मधुकलश कहकर सम्बोधित करना उसका निरादर करना है—

तुम नहीं हो भोग की ही वस्तु मुझको, अस्तु तुमसे
भीख मधु की माँगता मन की नहीं अलि ज्यों कुसुम से!
चाटुकारी से रिझाना हुई अवहेला तुम्हारी, सुनो नारी,
करूँ अभिनन्दन तुम्हारा मौन अब बिन कहे तुम से!
आज तक तुम फूल, तितली गीति थी वह छोड़ता हूँ।
प्रीति कवि कृत प्रेयसी की प्रीति थी—वह छोड़ता हूँ!
विषद मधु का कुण्ड था, मन तरी, ये पतवार भुज द्वय—
सुनो नारी! निरादर की रीति भी, वह छोड़ता हूँ।

(मिट्टी और फूल—नरेन्द्र, पृ० १३४)

नारी पुरुष की माता, सखी और प्रिया है, अतः उसे बंधनमुक्त कर ही हम समाज का स्वस्थ विकास कर सकते हैं। पंत जी का आह्वान सुनिए—

मुक्त करो नारी को मानव!
चिर वंदिनि नारी को
युग युग की बर्बर कारा से
जननि, सखी, प्यारी को। (युगवाणी, पृ० ८४)

नारी की दृष्टि केन्द्राभिमुख अधिक रहती है, विस्तार में गतिशील नहीं हो पाती। किन्तु अपने अभीष्ट को समर्पिता होकर रथचक्र की विधि से वह विस्तार को भी नाप लेती है। वह विघ्न मेटनेवाली, सृजनशीला और विश्व की अनमोल निधि है—

केन्द्र प्रिय है दृष्टि, अतिशय सङ्कुचित
गति की परिधि;

किन्तु नारी काटती विस्तार
द्रुत रथचक्र-विधि ।
पुरुष के समतल-सरण की
कामना की पूर्ति वह—
विघ्न हारिणि, बीजधारिणि,
सृष्टि की अनमोल निधि !

*(अग्निशस्य, नरेन्द्र शर्मा, पृ० ४५)*

प्रगतिवादी कवियों ने नारी से लम्पट अथवा स्वामी पुरुष के रूप में प्रेम-याचना नहीं कर उसके साथ एक मित्र को भूमिका निभाई है। महेन्द्र भटनागर की इन पंक्तियों को देखिए—

कर रहा हूँ मैं
तुम्हारा 'प्रभु' नहीं हूँ
हाँ सखा हूँ,
और तुमको सिर्फ अपने
प्यार के सुकुमार बंधन में
*हमेशा बाँध रखना चाहता हूँ। (बदलता युग, पृ० ७१)*

प्रगतिवाद की मूल चेतना सामाजिक यथार्थवाद है। अस्तु, यथार्थवादी दृष्टि से प्रगतिवादी कवियों ने नारी को विभिन्न रूपों में उभारा है। समाज में हम उसकी स्थितियों तथा मनोवृत्तियों के भी कतिपय चित्र देखने का प्रयास करें। सर्वप्रथम उसके दैन्य तथा पीड़ामय जीवन की एक झलक प्रस्तुत है—

रनिया अब तक जन्मान्तर से ज्यों की त्यों पूरी भूखी है।
मैं जन्मान्तर से वैसा ही ज्यों का त्यों पूरा खाता हूँ ॥
रनिया बिलकुल वही वही है, चिरकुट ही चिरकुट पहने है।
मैं भी बिलकुल वही वही हूँ, रेशम ही रेशम पहने हूँ ॥
रनिया मेरी दुखी बहन है, वह निदाघ में मुरझा रही है।
मैं रनिया का सुखी बन्धु हूँ चिर वसत में विहँस रहा हूँ ॥

(युग की गंगा, केदारनाथ अग्रवाल, पृ० ४०)

इन पंक्तियों में कवि ने वर्ग-वैषम्य को ओर संकेत करते हुए एक दुखिया बहन का चित्र आँका है। वेचारी रनिया दिनो-दिन मुरझाती जा रही है; उसकी भूख कभी नहीं मिट पाई और न शरीर के फटे-पुराने वस्त्र ही बदले जा सके।

बेचारी निम्नवर्गीय नारी बड़ी विवश होती है। भूख के कारण उसे अपने

प्रिय से बिछुड़ना पड़ता है और अन्ततोगत्वा जमीदारो द्वारा भय दिखाये जाने पर अपनी आमो-सी बौरायी जवानी भी उसे उन्हे भेंट चढानी पड़ जाती है—

साँझ हुई पथ देख रही है किसका, भरे दृगों की गगरी,
कही पेट की आग बुझाने गये पिया तज इसकी नगरी;
बीते कितने वर्ष इसे यों पथ पर अपनी रैन बिछाते,
और खुली आँखो मे अब तो कोई स्वप्न नही आ पाते।
इसकी भी आयी थी आमो सी बौराती प्रखर जवानी,
किन्तु गई चुपचाप जमीदारों के भय को छोड़ कहानी।

(किरण बेला—अंचल, पृ० ४८)

अंचल की 'वह मजदूर की अंधो लडकी' भी हमे मुँह फेर कर अपनी मानवता के स्वरूप पर पुर्नविचार के लिए बाध्य करती है—

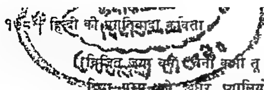
वह मजदूर की अंधी लड़की
खून जम गया जिसका काला काला
सड़ी प्राणघातक नमकीन हवा मे
दृष्टिहीना दुर्गन्ध भरी वह
भूख गन्दगी नग्न गरीबी मे।
कही नही मेहनत मजदूरी भी कर सकती
अन्धकार में पडी कब्र-सी आँखे
बासी रोटी बासी पानी
बीत रही धुँधली धुँधली जिन्दगानी।

यथार्थ की परिधि में किसी प्रिय वस्तु का दुर्बल पक्ष भी आता है। अस्तु, नारी के दुर्बल पक्ष का भी दर्शन कर लेना हमारे लिए वांछित है। 'आधुनिका' को सम्बोधित करते हुए पंत जी ने लिखा है—

मार्जारी तुम, नही प्रेम को करती आत्मसमर्पण
तुम्हे सुहाता रंग प्रणय, धन पद मद आत्म प्रदर्शन !
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नही अगर कुछ, निहो सिर्फ तुम नारी !

आधुनिका सब कुछ है, सिर्फ नारी नही रह गई है। उसे केवल रागरंग, प्रणय, धन, पद, मद, आत्मप्रदर्शन आदि अधिक प्रिय लगते हैं।

शील ने भी नारी के प्रति एक स्थल पर आलोचक का रुख अपनाया है। उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—



निश्चित जग्य बनी कभी तू संस्कृतियों का शाप।
दिया पुरुष को अधर प्यालियों मे मीठा सन्ताप।
आह, कराह, कसक, पीड़ा दी, दिया प्रेम का रोग,
नर की पूज्य लगी करने, जब सम्पत्ति से सम्भोग।

नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण सहज और स्वाभाविक है। उस आकर्षण की चर्चा साहित्य में युगो से होती है। प्रगतिवादी कवियों ने भी नारी-सौन्दर्य के जा को स्वर दिया है। दिनकर की इन पंक्तियों को देखिए—

एक इंगित पर दौड़े शूर
कनक-मृग पर होकर हृत ज्ञान,
हुई ऋषियो के तप का मोल
तुम्हारी एक मधुर मुस्कान। (रसवन्ती, पृ० १८

ऋषियो की हजारो साल में बँधी लँगोटी नारी की एक मुस्कान पर खुल जाती है। और बड़े-बड़े वीर योद्धा सुध-बुध खोकर नारी के चरणों में लोट जाते हैं कवि नागार्जुन भी उसे देखकर अँगराई भरने लगता है, अलकों की तैलाक्त सुरभि का झोंका आते ही उसकी रीढ़ तन जाती है और रग-रग मे बिजली-दौड़ जाती है—

आगे से आया
अलकों के तैलाक्त परिमल का झोंका
रग-रग में दौड़ गई बिजली
तन गई रीढ़। (सतरंगे पंखो वाली, पृ० १७)

पंत जी भी गागर खींचती हुई ग्राम युवती के कसमसाते युग रस भरे उभ कलश देखकर रसमसा उठते हैं—

खींचती उबहनी वह बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
खिंचते संग युग रस भरे कलश;
जल छलकाती,
रस बरसाती,
बल खाती वह घर को जाती
सिर पर घट
उर पर धर पट। (ग्राम्या, पृ० १८)

इन्ही चित्रों को देखकर महादेवी वर्मा ने इन्हें 'रीतिकालीन नायिकाओं का

आधुनिक संस्करण (महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य, पृ० २५१) कहा है। लेकिन यौन भावना को उत्तेजित करने वाले इन स्थलों में कवियों की दुर्बलता दृष्टिगोचर होती है। फिर भी प्रगतिवाद की नारी कल्पना प्रसूत कम और यथार्थ के समीप अधिक है। प्रायः निम्न वर्गीय स्त्री ही काव्य की विषय वस्तु बनी है।

## प्रकृति

प्रकृति अनन्त काल से मानव जाति को अपने असीम सौंदर्य में आनन्द, उल्लास, प्रफुल्लता और प्रेरणा प्रदान करती रही है। वह प्रत्येक प्राणी को जीवन का अमृत पान करानेवाली चिरकल्याणमयी प्रगतिवाद की भी एक विषय-वस्तु बन सकी है। छायावाद में वह रमणीय और सौम्य रूप में प्रकट हुई थी; उसके दर्पण में लौकिक अथवा अलौकिक सुकुमार भावनाओं को ही प्रतिबिंबित होने का अवसर प्राप्त हुआ था। किन्तु प्रगतिवाद ने प्रकृति में आत्म-परमात्म दर्शन के स्थान पर सामाजिक भावना, लोक जीवन की अनुकृति तथा वैयक्तिक उल्लास के दर्शन किए हैं। दीनता से पीड़ित जनजीवन को चित्रित करने के लिए इसने प्रकृति को कैनवास भी बनाया है।

प्रकृति को पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, मिट्टी-पानी, आकाश, बादल, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र तारे, अंधकार, प्रकाश, हवा, नदी, पहाड़, समुद्र, वन-उपवन, कीट, पतंग आदि स्वरूप प्रदान करते हैं। इस प्रकृति में सृजन-प्रलय का कार्य स्वाभाविक ढंग से चलता रहता है। किन्तु कवि का कल्पनाशील मन प्रकृति के उन विभिन्न व्यापारों में मानवीय भावनाएँ आरोपित कर प्रेरणापूर्ण आनन्द का सृजन करता है। प्रकृति के वे अंग और व्यापार उन भावनाओं के प्रतीक बन जाते हैं। एक उदाहरण देखिए—

> खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
> डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट (कुकुरमुत्ता, निराला, पृ० ४)

कुकुरमुत्ता गुलाब को खाद का खून चूसनेवाला कैपिटलिस्ट कहकर पुकार रहा है। वस्तुतः इन पंक्तियों में प्रकृति का प्रतीक के रूप में ही उपयोग हुआ है। प्रकृति के माध्यम से शोषक के प्रति कवि की भावना अभिव्यक्त हुई है।

काली मिट्टी के बीच बरसाती पानी का नाला विद्रोही स्वभाव का है, जो मार्ग के रोड़ों से लोहा लेता है। वह नंगे-भूखे, काले-कलूटे बेबस लोगों का नेतृत्व करने वाला है। नागरिक तथा ग्रामीण जीवन को प्रकृति में प्रतिबिंबित करते हुए 'निराला' ने 'खजोहरा' में झूमते, ठहाका मारते काले बादलों को जैसा स्थापित किया है—उसे इन पंक्तियों में देखें—

दौड़ते हैं बादल ये काले काले
हाईकोर्ट के वकुले मतवाले।
जहाँ चाहिए वहाँ नही बरसे
धान सूखे देखकर नही तरसे।
जहाँ पानी भरा वहाँ टूट पड़े
कहकहे लगाते हुए टूट पड़े।
× × ×
लोग रोज रात को आल्हा गाते
ढोलक पर अपना जी बहलाते।
झूला झूलती गाती हैं सावन
औरतें, "नही आये मन भावन।"
लड़के; पेंगे मारते हैं बढ़बढ़ कर
गूँज रहा भरा हुआ अम्बर।

यहाँ प्रकृति के साथ-साथ मानव-व्यापार भी समान भाव-चेतना से स्पन्दित दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रकृति के दृश्यों के चित्राधार पर अभिव्यंजित दीन-दुखियों का जीवन यथार्थ के सौंदर्य से दीप्त हो गया है। उदाहरणस्वरूप नागार्जुन की 'जयति जयति जय सर्व-मंगला' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

पूस मास की धूप सुहावन
घिसे हुए पीतल-सी पाडुर
पूस मास की धूप सुहावन
स्तनपायी नीरोग गोर छवि
शिशु के गालो जैसी मनहर
पूस मास की धूप सुहावन
फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बेटा
राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी
गर्भ भार से अलस-शिथिल है अंग अंग,
मुंह पर उसके मटमैली आभा।
× × ×
सब कुछ है, दोना नही है
कैसे काम चलेगा बोलो

चावल नहीं सिझा सकती है
रोटी नहीं सेंक सकती है
भाजी नहीं पका सकती है
पूस मास की धूप सुहावन।

पांडुर वर्ण की पूसी धूप स्तनपायी शिशु के गालों के रंग जैसी है। वह पीली पड़ी हुई गर्भवती गृहिणी से भी मिलजुल रही है। उस धूप में गर्भवती की असमर्थता भी परिवेश के पीलेपन में घुलमिल कर रंग को गहरा बना रही है।

सारी थकान मेटनेवाली संध्या विश्राम का संदेशा लेकर आती है। कर्म और संघर्षरत जीवन को नया उत्साह, नयी स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए रजनी की शीतलता चाहिए। प्रकृति का यह सुखद प्रेरक रूप दर्शनीय है—

आज इंसान हो गया है कैद
पर न मन हार मान सकता है
क्योंकि विश्राम की इस वेला में
यह थकी, अनमनी, सुनहरी धूप
दिन के संघर्ष से जो तप-तपकर
उजले सोने सी निखर आयी है
साँझ की मीठी बाँह चाहती है।

(धूप के धान, गिरिजाकुमार माथुर, पृ० ३१)

कवि त्रिलोचन किसान से उमड़े हुए काले बादल को देखने को कहता है जो जीवन में खुशियों की सरगम भरने आया है—

आसमान भर गया देख तो
इधर देख तो उधर देख तो
नाच रहे हैं उमड़-घुमड़ कर
काले बादल तनिक देख तो
तेरे प्राणों में भरने को नये राग लाये हैं। (धरती, पृ० १०७)

प्राणों में प्रफुल्लता और उल्लास भरने वाली प्रकृति मजदूर-किसान के श्रम से जब खेतों में मुस्करा उठती है तो कवि का भाव-प्रवण हृदय गा उठता है—

बहुत दिनों के बाद
अबकी मैंने जी भर देखी

पकी-सुनहली फसलों की मुस्कान
बहुत दिनों के बाद

× × ×

बहुत दिनों के बाद
अबकी मैंने जी भर सूँघे
मौलसिरी के ढेर-ढेर से ताजे-टटके फूल
बहुत दिनों के बाद।
(सतरंगे पंखों वाली, नागार्जुन, पृ० २३)

'चन्द्रगहना से लौटती बेर' में कवि केदारनाथ अग्रवाल ने देखा कि हरा ठिगना चना, गुलाबी फूल का मुरेठा बाँधे खड़ा है। उसके पास नीले फूल वाली तीसी अपनी पतली कमर पर बल खाती हुई कहती है कि जो उसके सिर रखे फूल को छू दे, उसे यह हृदय दान कर दे। और सरसों के तो हाथ पीले हो गए हैं, ब्याह-मंडप में आ गई है और फागुन होली गा रहा है। प्रकृति का यह स्वयंवर का आयोजन बड़ा आकर्षक है—

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सजकर खड़ा है।
पास ही मिलकर उगी है
बीच में अलसी हठीली
देह की पतली कमर की है लचीली,
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ाकर
कह रही है जो छुए यह
दूँ हृदय का दान उसको।
और सरसों की न पूछो।
हो गयी सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिए हैं
ब्याह-मंडप में पधारी।
फाग गाता मास फागुन

आ गया है आज जैसे,
देखता हूँ मैं : स्वयंवर हो रहा है। (युग की गंगा, पृ० ८)

प्रकृति के गत्यात्मक रूप का भी अंकन हुआ है। केदारनाथ अग्रवाल की है ये पंक्तियाँ देखिये—

चढ़ी पेड़ महुआ, थपाथप मचाया,
गिरी धम से फिर, चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा, किया कान मे, कू,
उतर कर भगी मैं हरे खेत पहुँची—
वहाँ गेहुँओं मे लहर खूब मारी,
पहर दो पहर क्या अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं। (युग की गंगा, पृ० १३)

वसंती हवा कितनी नटखट, चुलबुल और उमग भरी है उपर्युक्त उद्धरण में एक अल्हड़ किशोरी-सी अभिव्यक्त होकर वह हमारे मन-प्राणो को मोहने में पूर्णतः समर्थ है।

प्रकृति-चित्रण के अब तक जितने उद्धरण दिये गये है उनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्रगतिवाद में जितनी व्यापकता के साथ इसका समादर हुआ इसके पहले हिन्दी मे कभी नही हुआ था। प्रगतिवाद की यह भी एक बड़ी उपलब्धि मानी जाएगी। आलंबन, उद्दीपन विभाव के अतिरिक्त अलंकार के रूप में भी प्रकृति ने काव्य को सौंदर्य से समृद्ध किया। शोषण, वैषम्य, पौरुष, उत्साह, उमंग, विद्रोह आदि अनेक काव्य-विषयों तथा भावो के उपस्थापन में कवियो ने प्रकृति को माध्यम और उत्प्रेरिका बनाया। इसे सर्वथा नवीन ढंग से ग्रहण कर समाजवादी लोक-संग्रह भावनाओं को सौंदर्य दीप्ति प्रदान करने में वे समर्थ हो सके और इस प्रकार उन्होंने प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में नवीन दृष्टि-भंगिमा का समावेश किया।

अभी तक हमने प्रगतिवाद की प्रमुख विषय-वस्तु के रूप मे शोषक, शोषित, वर्ग-संघर्ष, लोक-जीवन की झांकी, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, नारी और प्रकृति की चर्चा की है। इन विषय-वस्तुओं से सम्बद्ध भावनाओ तथा विचारो का सम्बन्ध प्रधानतः समाजवाद से ही रहा है। समाजवाद ने प्रत्येक युग के साहित्य को किसी-न-किसी वर्ग का पक्षपाती प्रमाणित करते हुए साहित्यिको को सर्वहारा वर्ग की हित-रक्षा के लिए प्रत्यक्षतः सचेष्ट कर दिया था। अतः यह स्वाभाविक था कि साहित्य मे राजनैतिक नारेबाजी का भी समावेश हो जाता और समसामयिक राजनैतिक

तथा सामाजिक गतिविधियो का भी उस पर तत्काल प्रभाव पड़ा करता। यही कारण है कि प्रगतिवाद ने समसामयिक सामाजिक तथा राजनैतिक घटनाओं को भी तत्परता से काव्य का विषय बनाया है। प्रगति-युग की अवधि मे घटनेवाली उल्लेखनीय घटनायें द्वितीय विश्वयुद्ध, अगस्त की क्रान्ति, सुभाषचन्द्र बोस द्वारा जापानी सहायता से भारत के अँगरेजी शासन पर सशस्त्र आक्रमण, बंगाल का अकाल, सैनिक विद्रोह, हिन्दू-मुस्लिम दंगा, गाँधी-हत्या और कांग्रेसी शासन की प्रारंभिक असफलताएँ हैं। अतः संक्षेप मे एक-दो उद्धरणो द्वारा इन घटनाओं से संबंधित कवियो की प्रतिक्रियाओ का उल्लेख कर देना मैं अपेक्षित समझता हूँ।

## द्वितीय विश्वयुद्ध

साम्राज्यवादियों की युद्ध-लिप्सा ने विश्व की सम्पूर्ण मानवता को विध्वंस की आग में झोंक दिया था। उनकी निन्दा करते हुए डाक्टर रामविलास शर्मा ने लिखा था—

कुहरे से मुँदे हुए,
ईश के सुवर्ण सिंहासन के पार्श्व से,
उड़ चले पुष्पक-विमान् पृथ्वी की ओर!
करते है पुष्पवृष्टि,
नष्ट करते हैं नर सृष्टि, कर अग्निवृष्टि
दुर्दम नृशंस आतताइयो के ध्वंसकारी वायुयान!
हरे-हरे खेतो के
काले-काले लोहे के कल-कारखानों के,
नीचे कही दबा था भूकंप एक चुपचाप!
तोड़कर स्तब्धता सुदीर्घ-कालराशि की,
फैल गया चीत्कार-प्राणियो का वन मे, नदी के तीर।

किन्तु कवि को विश्वास है कि आततायियो-के विरुद्ध उठनेवाली विद्रोहाग्नि एक दिन अवश्य, मज्जा और मांस से सने हुए मसान में सुखद शांति का दीप जला सकेगी और पुनः एक बार साम्राज्यवादियो की ध्वंस लीला के बावजूद मानवता नये सिरे से पल्लवित होगी—

मज्जा और माँस से सने हुए मसान मे,
प्रज्ज्वलित चिता की लपटो मे,
अविनश्वर लिखी है शांति संसार की। (रूपतरंग, पृ० ७८)

इसी प्रकार सभी प्रगतिवादी कवियों ने विश्वयुद्ध की भर्त्सना की है।

## सन् बयालीस की अगस्त क्रांति

साम्यवादी कवियों ने इस क्रांति का स्वागत नहीं किया था। लेकिन अन्य सभी ने इसे जनता का सशक्त एवं उचित विद्रोह बतलाते हुए उत्साहपूर्ण रचनाएँ कीं। अगस्त-क्रांति के नायक श्री जयप्रकाश नारायण की प्रशस्ति गाते हुए श्री दिनकर ने लिखा था—

'जय हो' भारत के नये खड्ग, जय तरुण देश के सेनानी।
जय नई आग ! जय नई ज्योति ! जय नये लक्ष्य के अभिमानी ॥

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' युद्ध की कोई घड़ी खाली जाने देना नहीं चाहते—

वतन को घेरती आती
भयंकर आपदा काली;
न जाये युद्ध की कोई
घड़ी इस बार फिर खाली।
लड़ाई आज जनता की
उन्हीं से जो बड़े जाली;
जिन्होंने पीढ़ियों से रक्त—
शोषण की प्रथा पाली। (लाल चूनर, पृ० ४८)

यद्यपि इस कविता में अगस्त क्रांति का स्पष्ट संकेत नहीं है। लेकिन सन् १९४४ में प्रकाशित 'लाल चूनर' में जनता की लड़ाई का उल्लेख उस क्रांति की ओर भी संकेत करता है।

## वीर सुभाष का सशस्त्र विद्रोह

चूंकि हिटलर के विरुद्ध संघर्ष करने में अँग्रेज और रूसी एक साथ हो गये थे, साम्यवादियों ने हिटलर तथा जापानी सहायता से भारत में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध वीर सुभाष के युद्ध को साम्राज्यवादी करार दिया तथा सुभाष को गालियाँ दीं। एक उदाहरण देखिये—

बोस-विभीषण ने भी देखो कैसा जाल बिछाया है।
कल था जो देवता वही अब दानव दल ले आया है ॥

कह-कहकर वह गला कटावेगा अपने ही भाई का।
वह न स्वर्ग का देवदूत है, घृणित दलाल कमाई का॥[1]

लेकिन अन्य कवियों ने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की वीरता की प्रशंसा की है। उनकी आजाद हिन्द फौज को धन्यवाद दिया गया जिसने सम्पूर्ण भारत में जागरण का 'जय हिन्द' का मन्त्र फूंका—

जागे हैं कन्या-काश्मीर, हैं जाग उठे आसाम सिन्ध;
जय हिन्द मन्त्र की बलिहारी! है धन्य फौज आजाद हिन्द!
जय हिन्द कहो, आगे आओ, मिल रही प्राण के मीत जीत!
इस महादेश की सीमाएँ गा रही एक स्वर एक गीत।

(हंसमाला, नरेन्द्र शर्मा, पृ० ४८)

## बंगाल का अकाल

इसकी चर्चा पहले भी हो चुकी है। यहाँ पर नरेन्द्र की हो कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगा—

कलकत्ता के महानगर से क्षुधा-सिन्धु जब टकराया,
क्षुब्ध तरंगो पर उतराता कंकालों का दल आया!
मृत मानव, कुछ जीवित शव, सब हाथ पसारे आते हैं,
दो दानों को मुट्ठी बाँधे मिट्टी में सो जाते हैं!
वह देखो, वह मरे लाल की मुट्ठी खोल रही जाया!
क्षुब्ध तरंगों पर उतराता कंकालों का दल आया।

(हंसमाला, पृ० ३३)

तो बंगाल की ऐसी दुर्दशा हो गई थी। यह अंग्रेजी शासन के शोषण-दोहन का परिणाम ही तो था! लेकिन जिस भूख ने बंगाल के करोड़ो प्राणों का विनाश किया, वह आततायी शोषकों को भी छोड़नेवाली नहीं—

भूख भवानी भयावनी है
अगणित पद, मुख, कर वाली है,
बड़े विशाल उदर वाली है
भूख धरा पर जब चलती है,
वह डगमग-डगमग-हिलती है।

---

१. हिन्दी साहित्य (सन् १९२६-४०) —डॉ० भोलानाथ, पृ० ३७६।

वह अन्यायी चबा जाती है
अन्यायों को खा जाती है
और निगल जाती है पल में
आततायियों का दुःशासन,
ढह चुके अब तक कितने ही
अत्याचारी सम्राटों के
छत्र, किरीट, दण्ड, सिंहासन। (आधुनिक कवि, पृ० ८२)

कवि 'बच्चन' की इन पंक्तियों में प्रगतिवादी भावना ही मुखर हुई है।

## हिन्दू-मुस्लिम दंगा

अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो, की नीति से कितनी बार हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए और इन्हीं दंगो का बहाना [बनाकर देश का बँटवारा भी कराया गया। साम्प्रदायिक द्वेष भाव को लक्ष्य कर श्री नरेन्द्र शर्मा ने लिखा था—

मैं हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान, पर क्या दोनो इन्सान नही ?
मैं तुम्हें समझता रहा मलेच्छ, तुम मुझे बणिक बादहकानी
सदियों हम दोनो साथ रहे, यह बात न अब तक पहचानी
दोनों ही धरती के जाये, हम अनचाहे महमान नही ?

(हंसमाला, पृ० १७)

कवि अपने को हिन्दू समझता और मुसलमान को मुहम्मद साहब का अनुयायी। हिन्दुओं की आँखो में मुसलमान म्लेच्छ है और मुसलमान की आँखो मे हिन्दू बनिया और दहकानी। किन्तु मूल को दोनों मे से कोई भी समझने के लिये तैयार नही। वास्तविकता तो यह है कि दोनों इसी धरती माता के बेटे है, सम्प्रदायों की भिन्नता तो व्यर्थ की दीवार खड़ी करनेवाली है।

बात यह है कि मन्दिर और मस्जिद के भीतर बैठे हुए अन्धविश्वासग्रस्त धार्मिकों के शोषक ईश्वर हमें परस्पर मिला देखना नही चाहते—

हमें मिटाने की हलचल है, मन्दिर-मस्जिद के भीतर।
नाग फास लेकर बैठे है युग के जड़ शोषक ईश्वर॥

(उदयपथ, शील, पृ० ४)

## गांधी हत्या

यद्यपि गाँधी जी ईश्वर, सत्य और अहिंसा के पुजारी थे, किन्तु उन्हें राष्ट्रपिता के रूप में क्या साम्यवादी, क्या समाजवादी—सभी सम्मान देते थे। उनकी हत्या से

देश मे गम्भीर शोक की छाया फैल गई थी। उसकी प्रतिक्रिया नागार्जुन की इन पंक्तियों में देखिये—

जिस वर्बर ने
कल तुम्हारा खून पिया
वह नही मराठ हिन्दू है
वह प्रहरी है स्थिर स्वार्थों का
वह मानवता का महाशत्रु
हम समझ गये।
जो कहते हैं उसको पागल
वह नही चाहते परम क्षुब्ध जनता पर से बाहर निकले।

(युगधारा, पृ० २६)

*अन्तिम पंक्तियों में जवाहर लाल की आलोचना है।* श्री नागार्जुन की 'महाशत्रुओ की दाल न गलने देंगे' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। यथा—

बापू मरे
अनाथ हो गयी भारतमाता—
अब क्या होगा
अंधकार ही अंधकार है
हाय-हाय, हम कही के नही

किन्तु कवि दुःख और नैराश्य प्रकट करने के पश्चात् सम्प्रदायवादी दैत्यों के विकट खोह को खंडहर बनाने की प्रतिज्ञा लेता है। कवि सुमन भी कुछ ऐसी ही शपथ लेते हुए लिखते हैं—

कालीदह के कालिय नाग हम नाथेंगे, कुचलेंगे
जहरीले दाँत उखाड़ सिन्धु लहरो में लय कर देंगे।

## कांग्रेसी शासन

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश पर पंडित जवाहरलाल कांग्रेस से पूँजीपतियों को निकालने मे असमर्थ रहे, बल्कि वामपंथी विचारधारा के लोग ही कांग्रेस से बाहर निकल आए। अतः प्रगतिवादियों द्वारा कांग्रेसी शासन की आलोचना किया जाना स्वाभाविक था। सर्वप्रथम श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगा जिनमे स्वतंत्रता के पूर्व ही शोषक-दलो के साथ कांग्रेसियों द्वारा की गई संधि की आलोचना की गई है—

राष्ट्र का तारुण्य विप्लव चाहता था,
एक इंगित कूच का अन्तिम तुम्हारा !
एक ही आघात में शोषक दलों की
कुटिलता का जाल होता छिन्न सारा !
सन्धि का पथ चुन लिया तुमने अधूरा,
पीड़ितो का सुनो हाहाकार साथी !
उठ रहा तूफान प्राणों मे भले ही
पी रहे विष, मौन हो लाचार, साथी !
(बलिपथ के गीत, पृ० ६४)

इसी कवि ने सन् '४८ मे ही कांग्रेसी सरकार को शोषक की संज्ञा प्रदान कर दी थी और सावधान किया था। देखिये इन पंक्तियों को—

शोषण की तलवार उठाकर
मुख से गाँधी-जय न निकालो ?
ऐ शासन-सत्ता धन वालो,
अपने डगमग चरण सभालो !
(गाँधी जयंती पर, पृ० ३६)

'वक्त की आवाज' मे कवि शील ने भी बापू के शिष्यों की चर्चा की थी—

सेठ साहूकार स्वामी बन गये,
शिष्य बापू के सकामी बन गये। (उदयपथ, पृ० २२)

नागार्जुन ने तो लाज-शरम गर्वा देनेवाले, गाँधी जी के चेलों तथा जवाहर-लाल की और आगे बढ़कर कटु आलोचना की थी—

लाज-शरम रह गई न बाकी गाँधी जी के चेलों मे।
फूल नहीं लाठियाँ बरसती रामराज्य के जेलों में ।।
भैया, लन्दन ही पसन्द है आजादी की सीतर को।
नेहरू जी अब उमर गुजारेंगे अंग्रेजी खेलों में ।।

इतनी समसामयिक घटनाओ की चर्चा करने के बाद जनवादी कवियों द्वारा तेलंगाना-विद्रोह के समर्थन का भी उल्लेख कर देना मैं प्रसंगानुकूल मानता हूँ। अस्तु, कवि शील के जगे हुए नये किसान को देखा जाए—

लगी है होड जुल्मों से हुआ बागी तिलंगाना
बगावत गा रही है, जिन्दगी का क्रान्ति का गाना।
कि जुल्मी शासकों के चिह्न अब तो रह न पायेंगे,

हम अपनी जिन्दगी के शोर को फिर से जगायेंगे।
उगा है खून धरती में नई आशा चमकती है,
नये युग के लिए इन्सान से आह्वान आता है।
हमारी मुश्किलों की भीड़ हमसे दूर हो जाओ
हमारे देश में भी अब नया इन्सान आता है। (उदयपथ, पृ० ४८)

तेलंगाना के जन-विद्रोह का स्वागत करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा था—

आज नयी आशा से आन्ध्र देश जागा है।
युगों-युगों से पीड़ित जन उठ खड़े हुए हैं।
नयी चेतना से आन्दोलित
प्राणों से स्वर फूट पड़े हैं। (रूपतरंग, पृ० ८२)

षष्ठ प्रकरण

# प्रगतिवाद का कलापक्ष

द्विवेदी युग में कविता बोलचाल की भाषा के सम्पर्क में रहते हुए भी संस्कृत-निष्ठ होने की दिशा में सचेष्ट थी। उसका कलापक्ष बड़ा दुर्बल था। छायावाद उसकी अन्तर्निहित चेष्टा का स्वाभाविक परिणाम प्रमाणित हुआ। इसी के बल पर हिन्दी कलात्मकता, भाषा-सौकुमार्य तथा भाव-सौंदर्य से समृद्ध होकर विश्व की अन्य श्रेष्ठतम भाषाओं की पंक्ति में बैठने का पात्रत्व प्राप्त कर सकी। किन्तु छायावाद जनजीवन के कोलाहल से दूर भागने के प्रयास में जनभाषा से अलग-थलग पड़ गया। वह यथार्थ की कठोर भूमि पर अपने सुकुमार चरण धरने में असमर्थ रहा।

छायावाद की शब्द-योजना संस्कृत-निष्ठ थी। जनसाधारण में प्रचलित शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग करना यह कलात्मक औदात्य के लिए अनिवार्य मानता था। अरबी, फारसी के जो शब्द हमारी भाषा के अंग बन गए थे, उन्हें भी प्रयोग में लाने से परहेज किया गया। प्रमाणस्वरूप छायावादी काव्य की इन पंक्तियों को देखिए—

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात
मोतियों-सा हिलता-हिम-हास
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल-विद्युत का पावस-लास,
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले-अगों का मधु मास,
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये, प्राणों की प्राण। (गुंजन, पंत, पृ० ४१)

छायावादी कविता की शब्द-योजना में एक और प्रवृत्ति ध्यातव्य है, इसमें सहायक क्रिया 'है' का प्रयोग शायद ही कहीं मिले। हाँ, प्रधान क्रिया के रूप में कहीं-कहीं यह अवश्य प्रयुक्त हुआ है।

शब्द-योजना की दृष्टि से प्रगतिवाद से उपर्युक्त छायावादी प्रवृत्तियों के विपरीत जनभाषा के तद्भव, देशज तथा बहुप्रचलित विदेशी शब्दों को अपनाया और 'हैं' को भी अपनी विशिष्टता का एक अंग बनाकर यथार्थ को स्वर देने के लिए अग्रसर हुआ। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

संध्या से ही सूना सूना मन बेहद भारी है,
मुरझाया-सा जीवन-शतदल, कैसी लाचारी है,
है जाने कितनी दूर सुनहरा प्रात,
तुम नहीं, और अगहन की ठंडी रात।

(संतरण, महेन्द्र भटनागर, पृ० ७३)

किन्तु यह शब्द-योजना सम्बन्धी विशिष्टता प्रगतिवाद की ही देन है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सर्वाधिक सरल तथा तद्भव प्रधान भाषा का प्रयोग सर्वप्रथम बच्चन की रचनाओं में देखने को मिला जो प्रधानतः प्रेमवादी कलाकार रहे हैं और हिन्दी में हालावाद के जनक भी कहे जाते हैं। वस्तुतः भाषा में सरलता का आग्रह छायावाद के प्रति विद्रोह का परिचायक है। अधिकांश श्रेष्ठ प्रगतिवादी कवियों की रचनाओं में भी छायावादी शैली के प्रभाव का दर्शन होता है; वे बहुत दिनों तक उस प्रभाव से मुक्त होने में असमर्थ रहे। इन कवियों में पंत और निराला के अतिरिक्त रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, दिनकर और शिव-मंगल सिंह सुमन भी परिगणित होंगे। सच पूछा जाए तो शब्द-योजना में छायावादी संस्कार से सर्वथा मुक्त होना जरा कठिन भी था। छायावाद के पहले हिन्दी खड़ी बोली में कुछ था ही क्या? इसी के द्वारा सर्वप्रथम कविता की भाषा को एक स्तर प्राप्त हुआ और सामान्य स्तर की प्रभविष्णुता बनाये रखने के लिए जैसी भाषा की प्रत्येक स्थिति में आवश्यकता होती, उसमें कुछ न कुछ छायावादी संस्कार झलक ही जाता। लेकिन प्रगतिवादी कवियों में इतनी क्षमता अवश्य दृष्टिगोचर होती है कि वे जब चाहते छायावादी शैली में कविता लिख लेते। हाँ यह दूसरी बात है कि निराला, प्रसाद, पंत और महादेवी जैसी प्रतिभा प्रगतिवाद को प्राप्त न हो सकी (पंत और निराला प्रगतिशील रचना करने के बावजूद छायावादी ही कहे जाते हैं)। प्रत्येक युग का कलाकार भाषा का संस्कार-परिष्कार कर सौंदर्य को उभारने का प्रयास करता है। *किन्तु नवीनता की ताजगी जनसाधारण की सतत विकासशील* बोली से ही उपलब्ध होती है। प्रगतिवादी, देशिल बैना सब जन मिट्ठा के रहस्य से पूर्व परिचित थे। तभी भाषा के छायावादी सौकुमार्य के प्रति अनावश्यक निष्ठा को झटका देते हुए लोगों को प्रसाद और ओज-गुणयुक्त वाणी से आकर्षित करने में सफल हो सके।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है, प्रगतिवादी कवियों की प्रधान चेष्टा यही रही कि वे सरल भाषा में अपने मनोभावों तथा अनुभूतियों को यथासंभव स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान कर सकें। परिणामस्वरूप अनुभूति को व्यक्त करने में अपेक्षाकृत अधिक शब्द-व्यय हो गया है तथा काव्य में कसावट का अभाव खटकता है। किन्तु आगे चलकर नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री और शिवमंगल सिंह सुमन की कृतियों से उस अभाव की भी पूर्ति लगभग हो गई है। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि सरल भाषा में कम शब्दों द्वारा गंभीर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति श्रेष्ठ कलाकार द्वारा ही संभव होती है और ऐसे कलाकार विरले ही होते हैं।

प्रगतिवाद की प्रारम्भिक रचनाओं में मनोच्छ्वास तथा विषयवस्तु का वर्णन विश्लेषण दोनों की प्रधानता है। लेकिन बाद में व्यंग्यात्मक शैली का विकास हुआ जो प्रगतिवाद की महत्वपूर्ण देन मानी जाएगी। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सन् '४२-'४३ के पूर्व प्रगतिवाद की जो भाषा थी, वह मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुकूल थी, किन्तु आगे चलकर जिस शैली का विकास हुआ वह प्रयोगवादी गद्यात्मकता एवं वक्रता से सम्पन्न रहने के कारण कुछ भिन्न पड़ती थी, अर्थात् वह यथार्थ और व्यंग्य के अनुकूल तो थी किन्तु ओज और प्रसाद खो देने से उतनी प्रभावशाली न रहकर प्रक्षोभ उत्पन्न करने वाली हो गई। इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यथार्थवाद की भाषा भावोच्छ्वास के अभाव में ओजपूर्ण कम रह जाती है। अतः प्रगतिवाद की सन् '४३ के बाद की विकसित व्यंग्यात्मक शैली भी इसके अनुकूल ही कही जाएगी। व्यंग्य प्रधान शैली का एक उदाहरण देखिए—

ओ रे प्रेत—
कड़क कर बोले नरक के मालिक यमराज
सच सच बतला
कैसे मरा तू
भूख से अकाल में

× × ×

सुनिए महाराज
तनिक भी पीर नहीं
दुख नहीं, दुविधा नहीं
सरलतापूर्वक निकले थे प्राण
सह न सकी आंत देखिए का [illegible]। ([illegible], [illegible]

इस उद्धरण में उन सरकारी महापुरुषों पर व्यंग्य-बाण छोड़ा गया है जो दीनताग्रस्त शिक्षक-समुदाय पर कृपादृष्टि नहीं रखते।

## प्रतीक-विधान

प्रतीक प्रस्तुत वस्तु के साथ प्रयुक्त होकर अप्रस्तुत विषय का अपने साहचर्य के कारण बोध कराने में समर्थ होता है। "किसी अन्य स्तर की समान रूप-वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है।" (प्रतीक-वाद, साहित्यकोश, पृ० ४७१ अतः स्वाभाविक है कि यह उपमान से भिन्न होगा। उपमान में सादृश्य अथवा साधर्म्य गुण की स्थिति आवश्यक है किन्तु प्रतीक में भावना को जाग्रत करने की क्षमता ही पर्याप्त है। संकेत के माध्यम से यह किसी वस्तु के वैशिष्ट्य तथा प्रभाव का अंकन करता है, अतः यह 'बिम्ब' से भी भिन्न है।

युग-परिवर्तन के साथ ही प्रतीक भी बदला करते हैं। संत-साहित्य के प्रतीक और आज की रहस्यवादी अथवा छायावादी रचनाओं में उपलब्ध प्रतीक बहुत भिन्न पड़ते हैं। आकाश, लहर, भँवर, सागर, तड़ित आदि छायावादी प्रतीक नवीन भावनाओं के उन्मेष में महत्वपूर्ण सहयोग दे चुके हैं किन्तु प्रतीकों के प्रयोग से जहाँ काव्य में लावण्य और सौंदर्य की सृष्टि होती है, वहाँ दूसरी ओर उससे उत्पन्न दुरूहता काव्य के रसास्वादन में बाधा भी उपस्थित करती है।

प्रगतिवाद में भी नवीन प्रतीकों का प्रयोग हुआ, किन्तु उनकी संख्या बहुत ज्यादा नहीं और साथ ही कवियों में, प्रतीकों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति की प्रवृत्ति भी नहीं थी। प्रगतिवादी कलाकार अपनी भावनाओं को स्पष्ट ढंग से पाठकों के समक्ष उपस्थित करना चाहते थे और इसी में उनके प्रयोजन की सिद्धि भी संभव थी। उनका प्रधान उद्देश्य सुबोध काव्य के माध्यम से क्रान्तिकारी चेतना को सबल और प्राणवन्त बनाना था। प्रतीकों के बहुल प्रयोग से इसी कारण वे बचते रहे। तो भी उनकी कृतियों में ऐसे बहुत से प्रतीक आए हैं जो प्रगतिशील विचारधारा के संस्कार के अनुकूल पड़ते हैं। उनका चुनाव जन-जीवन के परिवेश से हुआ है। परिणामतः वे अबूझ नहीं लगते। तो, वे प्रतीक हैं लाल सितारा, हँसिया, हथोड़ा, कुकुरमुत्ता, गुलाब, कोयला, गिद्ध, मसाल, कुहासा, झोपड़ी आदि। लाल सितारा साम्यवादी ध्वजा में अंकित है और इस प्रकार वह सभी महादेशों के दलित पीड़ित वर्ग के उदित भाग्य का प्रतीक बन गया है। नरेन्द्र शर्मा की 'चेतावनी' की इन पंक्तियों को देखिए—

चौथा खण्ड सोवियत, जिसका झलमल लाल सितारा,
जहाँ डूबती मानवता को मिलने लगा किनारा।

हँसिया और हथौड़ा किसान और मजदूर की ओर संकेत करते हैं और साथ ही इनके प्रयोग से किसान और मजदूर वर्ग की महान शक्ति तथा समाजवादी व्यवस्था का बोध होता है। श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' की निम्नलिखित पंक्तियों में इन प्रतीकों का प्रयोग द्रष्टव्य है—

हँसिया और हथौड़ा अब तक
हुआ नहीं पामाल
यह पानी से नहीं
खून से ही था झंडा लाल। (प्रलय–सृजन, पृ० ६०)

निराला जी ने 'कुकुरमुत्ता' को सर्वहारा वर्ग का तथा 'गुलाब' को पूँजीपति का प्रतीक बनाया है। उनकी 'कुकुरमुत्ता' पुस्तक से इस उद्धृत पद्यांश को देखिए—

पहाड़ी से उठा सर ऐंठ कर बोला कुकुरमुत्ता—
अबे, सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगो आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट। (पृ० ३-४)

कोयला भी शोषित वर्ग का प्रतीक है और 'मशाल' क्रान्ति का पर्याय बन गई है। प्रमाणस्वरूप इस उद्धरण में दोनों का प्रयोग द्रष्टव्य है—

आग बन गया उपेक्षितों का वर्ग
कि ढह रहा प्रवंचना का दुर्ग,
पत्थरों के कोयले धधक उठे,
लपट मशाल बन हवा के संग
अंधकार पर प्रहार कर रही। (जागते रहो, महेन्द्र भटनागर)

'मशाल' के प्रयोग का एक और उदाहरण प्रस्तुत है।—

मुड़ गये समय के चपल चरण
आया कृतान्त बन मुक्तिकाल
मिट्टी कर हर कण सुलग उठा
जल उठी एशिया की मशाल। (धूप के धान, गिरिजाकुमार माथुर)

गिद्ध, चील पूँजीपति तथा साम्राज्यवादी हैं। 'कुहासा' नैराश्य का तथा 'झोपड़ी' गरीबी का प्रतीक है।

विद्युत् की इस चकाचौंध में
देख, दीप की लौ रोती है

अरी, हृदय को थाम महल के
लिये झोपड़ी बलि होती है। (धूप के धान)

उपर्युक्त उद्धरण में 'विद्युत' और 'महल' धन के लिए तथा 'दीप' और 'झोपड़ी' गरीबी के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

इसी प्रकार जोंक, ताडव, प्रलय, गर्गानासा आदि प्रतीकों का भी विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रायः सभी प्रतीक शोषक, शोषित और क्रान्ति को ही प्रतिक्रियाओं तथा भावनाओं के विभिन्न रंगों में चित्रित करने के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं। इनका सम्बन्ध व्यक्ति की अन्तर्मुखी भावधारा से नहीं रहने के कारण ये अत्यधिक स्पष्ट और बोधगम्य हैं। कवियों ने अपनी रचनाओं में इनकी व्याख्या प्रस्तुत कर प्रायः इनके संकेतात्मक सौंदर्य को भी कहीं-कहीं प्रभाहीन कर दिया है।

## बिम्ब विधान

देखने, छूने, चखने, सूंघने तथा सुनने से हमारे मस्तिष्क में वस्तुओं के बिम्ब तैयार होते रहते हैं। जब हम सो जाते हैं तो उस समय हमारा अवचेतन मन उन्हीं बिम्बों की दुनिया का सैर करता रहता है। किन्तु ये बिम्ब हमारी इच्छा-अभिलाषा तथा आन्तरिक और बाह्य उद्दीपनों द्वारा प्रभावित होने से इस प्रकार परस्पर मिलजुल जाते हैं कि मानस पटल पर नूतन प्रतिमाएँ उभरती रहती हैं। इन नूतन बिम्बों के निर्मायक घटक हमारे पूर्व परिचित ही रहते हैं। स्वप्न के बिम्ब अस्त-व्यस्त तथा समाज के लिए कोई अर्थ नहीं रखते; किन्तु कवि द्वारा शब्दों में प्रस्तुत बिम्ब क्रमबद्ध, सार्थक तथा किसी भावना अथवा विचार को रूपायित करने वाले होते हैं। बिम्ब-विधान को कल्पना तथा बिम्ब को मानस प्रतिमा का पर्याय कहा गया है। (बिम्ब-विधान—साहित्यकोश, स० डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४३४)। काव्य प्रणयन में कवि स्वरचित बिम्बों का उपयोग करता है। यही बिम्ब-विधान काव्य का मूलाधार है। नूतन बिम्बों की सृष्टि से ही काव्य में मौलिकता आती है। बिम्बों के माध्यम से ही कवि का व्यक्तित्व काव्य में अनुस्यूत होता है। अतः वे बिम्ब उसको अनावृत भी करने में सक्षम है। कृतिकार सृजन के क्षण जब भावदशा में पहुँच जाता है तो वह अनजाने स्वाभाविक ढंग से अपने अवचेतन को अभिव्यक्ति प्रदान करने लगता है। बिम्ब की सम्प्रेषकता और मूल्यवत्ता पर ही कलाकृति का महत्व निर्भर करता है। (दिनकर, एक पुनर्मूल्याकन—विजेन्द्र नारायण सिंह, पृ० ११)।

छायावाद को हिन्दी का रोमैन्टिसिज्म कहा जाता है। रूमानी कवियों का विशेष झुकाव नारी और प्रकृति की ओर रहता है अतः उनके काव्य में बिम्ब

उपलब्ध होते हैं उनसे नारी और प्रकृति के प्रति रुझान की ही पुष्टि होती है। अस्तु, छायावादी कृतियों में प्रधानतः शृङ्गार और नैसर्गिक छवियों के चित्र उपलब्ध होना स्वाभाविक है। इसके विपरीत प्रगतिवाद में जीवन की समस्याओं के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रेरित स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार की वस्तुओं के बिम्बों का प्रभूत मात्रा में उपयोग हुआ है। किन्तु बहिर्मुखी दृष्टि के कारण प्रगतिवादी कवियों ने स्थूल वस्तु-बिम्बों की ही सर्वाधिक सृष्टि की है। उन्होंने सौंदर्य को जीवन-सापेक्ष माना तथा जीवन और प्रकृति के व्यापक आयाम को अपने काव्य का विषय बनाया है। वस्तु-बिम्बों के सृजन में यथार्थ का विशेष ध्यान रखा गया है, वैयक्तिक रुझान मे उन्हें प्रभावित करने का मोह अधिक प्रश्रय नही पा सका। एक वस्तु-बिम्ब का उदाहरण देखा जाए—

इस नई दाल की चक्की पर
बिरजू, वह नाटा-सा मजूर,
करता है काम कई दिन से
करके अपने को चूर-चूर।
कह दिया गया उसमे यह है—
कल से उसका कुछ नही काम
उसके स्वामी अवलोक गए,
वह बैठा है लेकर विराम।
यह सच है भूल हुई उसमे,
वह कड़ी प्यास से था अधीर;
संगी से चाहा था उसने
उस नये घड़े का शुद्ध नीर। (दैनिकी, सियारामशरण गुप्त, पृ० २७)

इसमे कार्यरत मजदूर के साथ मालिक का निष्ठुर व्यवहार साकार हो उठा है। बिरजू का अनवरत चक्की चलाना, मालिक का आदेश देना। शुद्ध नीर की प्रतीक्षा मे प्यासे बिरजू का पलभर के लिए विराम लेना—इन सभी परिस्थितियों के चित्र इन पंक्तियों में जीवंत हो उठे है।

भगवतीचरण वर्मा के भिक्षुक की शब्द-प्रतिमा भी द्रष्टव्य है—

वे मांसहीन, वे रक्तहीन
वे अन्नहीन, वे वस्त्रहीन,
वे सड़को पर सोने वाले,
वे धूल-धूसरित अति मलीन,

चिथड़ों में से दुर्गन्ध कढ़ी,
रोगों से उनकी देह सड़ी
उनके मुख से थी छूट रही
कलुषित वचनों की एक झड़ी
वे घोर नरक में पड़े हुए,
वे जग-जीवन से उदासीन ! (मानव, पृ० ९२)

यहाँ भिखारी की कुरूपता और उनका बीभत्स जीवनयापन स्पष्टतया प्रतिबिम्बित है। ऐसे बिम्ब-विधान में यथार्थ का सौंदर्य उपलब्ध होता है जो सुन्दर वस्तुओं के चित्र से कम आकर्षक नहीं लगता।

प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोपित बिम्ब कल्पनाप्रसूत होता है। इसमें अलंकारों की विशेष सहायता ली जाती है। प्रगतिवाद का एक कल्पना-प्रसूत बिम्ब देखिए—

युग की संध्या कृषक वधू-सी
किसका पंथ निहार रही ?
उलझी हुई समस्याओं-सी
बिखरी लटें सँवार रही है।
धूल-धूसरित अस्त-व्यस्त वस्त्रों की
शोभा मनमोहे
माथे पर रक्ताभ चन्द्रमा की
सुहाग-बिंदिया सोहे,
उचक उचक ऊँची खूँटी से
नया सिंगार उतार रही। (अग्निशस्य, नरेन्द्र शर्मा, पृ० १००)

'युग की संध्या' में संध्या तथा कृषक वधू के चित्र एक साथ प्रतिबिम्बित हैं किन्तु प्रधान बिम्ब कृषक वधू का है जो कवि को अनावृत कर रोमैण्टिक प्रमाणित कर रहा है। ऐसे बिम्ब-विधान में 'रूपक' तथा 'मानवीकरण' की विशेष सहायता ली जाती है।

स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार की वस्तुओं के चित्रण में प्रायः बिम्बों का आश्रय लिया जाता है। अमूर्त्त अर्थात् सूक्ष्म बिम्ब अपूर्व काव्य-सौंदर्य की सृष्टि में सहायक बनते हैं। दर्शन, स्पर्श, आस्वादन, आघ्राण तथा श्रवण से सम्बद्ध बिम्ब स्थूल अर्थात् मूर्त्त होते हैं। लेकिन हर्ष, उल्लास, दुःख, चिन्ता आदि भाववाचक बिम्ब अमूर्त्त कहे जाएँगे। प्रगतिवाद में ऐसे अमूर्त्त बिम्बों का अभाव है। तो भी उदाहरण मिल ही जाएँगे। दिनकर की इन पंक्तियों को देखें—

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार दिव्य, गौरव विराट !
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !

गौरव की अनुभूति सर्वोच्च हिमालय की विराटता को तथा पौरुष उसकी अपराजय शक्ति को रूपायित कर रहे है। किन्तु पौरुष के साथ पुंजीभूत ज्वाल का स्थूल बिम्ब भी जुड़ा हुआ है।

तो प्रगतिवाद मे अप्रस्तुत अमूर्त्त बिम्बो का वह भव्य आयोजन उपलब्ध नही होता जो छायावाद में है। मूर्त्त बिम्बो को भी अलंकृत ढंग से प्रस्तुत करने की चेष्टा भी कम की गई है। तो भी इसके सीधे-सादे रेखाचित्रों में मानवीय संवेदना जगाने की अपूर्व क्षमता है; उनमें ग्राम्य जीवन की वह ताजगी और प्राणचेतना है जो काव्य को जीवंत और आकर्षक बना देती है।

## छन्द-विधान

कविता वह प्राण संगीत है जिससे हमारे मनोभाव और विचार रससिक्त होकर पाठकों के मर्म को छूने मे समर्थ हो पाते है और उस संगीत तत्व की रक्षा छन्द करता है। अतः काव्य प्रणयन में छन्द का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। हमारे विद्रोही कवियों ने छन्द-बंध के विरुद्ध आवाज उठाकर भी इसकी महत्ता कभी भी कम करके नही आंकी। पंत जी ने जहाँ एक ओर उद्घोषणा की थी कि खुल गए छन्द के बन्ध प्रास के रजत पाश' वही दूसरी ओर उनका यह कथन भी ध्यातव्य है—''कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द मे लयमान है। (प्रवेश–शिल्पदर्शन, पृ० १७)। अस्तु, छन्द कभी महत्वहीन और नगण्य नही हो सकता। लेकिन परिवर्तित जगत और जीवन के परिप्रेक्ष्य मे उन छन्दों के स्वरूप का बदलना भी अपेक्षित है जो व्यर्थ ही कवियों को परेशानी में डालते हैं और जिनके स्वरूप में परिवर्तन हो जाने पर अथवा साधारण हेर-फेर से कोई हानि नही दीख पड़ती। उनमें युगानुकूल परिवर्तन से ही नये जीवन का नया संगीत भास्वर हो सकता है। अस्तु।

छायावादी कवियों ने अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप छंद-विधान में भी स्वच्छन्दता बरती और नवीन प्रयोग किए। परिणामस्वरूप नये छन्द, दो-तीन छन्दों के मेल से मिश्र छन्द, मुक्त छन्द तथा उर्दू छन्द देखने को मिले। दो लघुओं के स्थान पर एक गुरु और एक गुरु के स्थान पर दो लघुओं का प्रयोग, चरण सम्बन्धी नियमों की

अवहेलना तथा यति के स्थान में हेर-फेर किये जाने लगे। प्रयत्न-लाघव का प्रभाव यहाँ भी स्पष्ट है।

सरल और सीधे मार्ग के प्रेमी प्रगतिवादियों ने भी छन्द-विधानगत सम्पूर्ण छायावादी स्वच्छन्दता तथा नूतन प्रयोगों को स्वीकार लिया और साथ ही कुछ उन छन्दों को भी छांट दिया अथवा उनका बहुत कम उपयोग किया जो छायावाद के तो अनुकूल पड़ते थे किन्तु इसकी प्रवृत्ति से मेल नहीं खाते थे। इसकी पुष्टि में पंत द्वारा प्रयुक्त पद्धरि छन्द का उदाहरण दिया जा सकता है।

प्रगतिवाद की छन्दानुशासी रचनाएँ प्रायः आँसू, चौपाई, ग्रन्थि, अरिल्ल, राधिका, रोला, गीतिका, हरिगीतिका, ललित, विधाता, ताटंक, वीर, उल्लाला आदि छन्दों के मिश्र अथवा मौलिक रूपों में मिलती हैं। सन् १९४२-४३ से मुक्त छन्द में कविता लिखने की प्रवृत्ति बढ़ गई थी। मुक्त छन्द भी एक प्रकार का छन्द ही है जिसमें लय, प्रवाह तथा यति के दर्शन होते हैं किन्तु चरण की व्यवस्था और मात्राओं की सीमा नहीं रह जाती; बीच-बीच में अनुप्रास का प्रयोग भी देखने को मिलता है। प्रमाणस्वरूप एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

कामधेनु-सी काँग्रेस अब
मुरसा जैसा मुँह बाये है।
शासन के अधिकारी नेता
डायर की वर्दी पहने है
सत्य-अहिंसा के अवतारी अब हिंसा का रूप धरे हैं
अंग्रेजी पिस्तौल चलाकर
कफन-लपेटी आजादी का
जन-सेवक का खून चाटकर
रामराज्य की कथा सुनाकर, सौ प्रयास से जिला रहे हैं।[1]

मुक्त छन्द के उपर्युक्त लक्षणों लयात्मक तथा प्रवाहपूर्ण मुक्त छन्द की ही व्याख्या हो पाई है। ऐसे मुक्त छन्द के भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनमें ताल की लहरों की गति पाई जाती है लेकिन नदी का वेग नहीं रहता। इसे रबर छन्द भी कह लीजिए। नागार्जुन की इन पंक्तियों को देखिए—

नीम के ये टहनियाँ
झांकती हैं सीखचों के पार

१. कामधेनु काँग्रेस अब—केदारनाथ अग्रवाल, 'हँस', जुलाई '४८।

यह कपूरी धूप
शिशिर की यह दुपहरी, यह प्रकृति का उल्लास
रोम रोम वुझा लेगा ताजगी की प्यास
रात भर जगती रही
अब कर रही आराम
गाढ़ी नींद का आश्वास भर अब मौन से लिपटा हुआ है
बेखबर सोई हुई है छापने की यह विराट मशीन
उधर मुँह वाए पड़े हैं टाइपों के मलिन धूसर केस
पर, इधर तो झाँकती है दो सलोनी टहनियाँ
सीखचों के पार। (सतरंगे पखों वाली, पृ० ३३)

निराला, त्रिलोचन शास्त्री और शमशेर ने हिन्दी में उर्दू छन्दों का बड़ा सफल प्रयोग किया है। शमशेर की गजलों में उर्दू शब्दों के अत्यधिक प्रयोग से हिन्दी के संस्कारगत लक्षणों को हानि पहुँचती सी लगती है। इस दृष्टि से निराला और त्रिलोचन अधिक सफल रहे हैं। निराला की एक गजल देखे—

अगर तू डर से पीछे हट गया तो काम रहने दे।
अगर वढना है अरि की ओर तो आराम रहने दे।
विगडकर वनते और वनकर विगडते एक युग वीता,
परी और शाम रहने दे, शराब और जाम रहने दे।
अगर जर्रे को जर कर तू, वडे मूजी को सरकर तू।
जमाने से बिगड़ कर चलता हो वह नाम रहने दे।
न पड जाये तो क्या परदा; न गड़ जाये तो क्या आँखें।
धनी से वाम होने को धनी का धाम रहने दे। (बेला, पृ० ६५)

गजल की आत्मा वनाये रखने के लिए कवि को आखिर उर्दू शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ा किन्तु इसे हिन्दी के दामन से दूर नही जाने दिया है। कवि त्रिलोचन को गजल और रुवाई लिखने मे सर्वाधिक सफलता मिली है।

विना उर्दू शब्दों का प्रयोग किये उन्होने गजल और रुबाई की आत्मा को हिन्दी मे प्रतिष्ठित कर दिया है। उनकी एक रुबाई उद्धृत की जा रही है—

आप कहते हो तो अपनी भी सुना देता हूँ मैं,
दिल के अन्दर जो छिपा है वह दिखा देता हूँ मैं,

हूक उठती है हृदय मे और गा देता हूँ मैं,
आप उत्सुक हैं कहाँ से भाव ला देता हूँ मैं।

(गुलाब और बुलबुल, त्रिलोचन, पृ० ५७)

श्री त्रिलोचन शास्त्री ने अंग्रेजी के सानेट को भी बड़ी सफलतापूर्वक हिन्दी में पचा लिया है। उनकी 'दिगंत' सानेट-प्रधान कृति है। एक उदाहरण देखिए—

तुम्हे देखता हूँ तो आँखों मे सुरूप का
अंजन-सा लग जाता है ऐसा लगता है
कि मैं तुम्हारे बिना निवासी अंधकूप का
ही हूँ, मन में कुछ उत्साह नहीं जगता है
कि मैं कुछ चखूं, करूँ, धरूँ, लेकिन ठगता हूँ
मेरा चिर वैराग्य तुम्हारे आ जाने से
किसी अपार्थिव रस से मेरा मन पगता है
और सोचने लगता हूँ, तुमको पाने से
मैं कुछ से कुछ हो जाऊँगा आ जाने से
सूरज के जैसे पृथ्वीतल हो जाता है।
मन कुछ पाता है बीती पर पछताने से,
अकर्मण्यता का घन मंडल खो जाता है
संचारिणी ज्योति, हर दो वह घोर अंधेरा
जिसने भूतल को अम्बर को आकर घेरा। (पृ० ५७)

चौदह पंक्तियों के इस सानेट में तुक योजना अ ब अ ब ब द ब द द स द स इ इ के अनुरूप है।

संक्षेप में यही प्रगतिवाद का छन्द विधान है। प्रगतिवादी कवियो ने काव्य प्रणयन के निमित्त उन्ही छन्दों को अपनाया है जिनके माध्यम से वे अपने मनोभावों और विचारो को स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त कर सकते हैं, मात्र नवीनता-प्रदर्शन के लिए उन्होंने छन्द-योजना नही की। लय और प्रवाह की दृष्टि से भी प्रगतिवादी सफल रहे हैं।

## अलंकार-योजना

वाणी के विभूषण का नाम अलंकार है। यह शब्द और अर्थ दोनों को प्रभविष्णुता प्रदान करता है। किन्तु काव्य का रस-तत्व अथवा प्राण-तत्व मूलतः अभिव्यक्त होने वाली अनुभूतियों पर आधृत है। अतः अलंकार तभी फबता है जबकि

अनुभूतियों को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करने तथा भावगत सौंदर्य के उद्यापन के निमित्त वह अनायास एवं सहज ढंग से प्रयुक्त होता है और तभी वह वाणी को अलम् करने में समर्थ भी हो पाता है। भर्ती वाला अलकार चमत्कार उत्पन्न कर रह जाता है, अथवा उससे काव्यकृति हास्यास्पद बनकर रह जाती है। इस मर्म को प्रत्येक युग के महान कलाकार अच्छी तरह जानते रहे है। हमारे यहाँ आलकारिकों के प्रभाव से रीतियुग के कवि अलंकारों की भर्ती के चक्कर में खूब पड़े थे। किन्तु बोली के साहित्य में ऐसी प्रवृत्ति किसी युग मे नही पाई गई। तो भी छायावादी युग तक कवियो में भाषा के अलंकरण की चेष्टा कम ही सही, देखी जा सकती है। प्रगतिवाद में अलंकरण के स्थान पर सरल, सुबोध किन्तु जोरदार ढंग से भावनाओ को व्यक्त करने की प्रवृत्ति ही प्रबल रही। इसमें जितने अलंकार प्रयोग मे आए हैं वे सभी स्वाभाविक एवं सहज ढंग से प्रयुक्त लगते है। बोधगम्यता इसकी प्रधान विशेषता रही है। अस्तु, अनायास ही जो प्रमुख अलंकार प्रगतिवादी साहित्य मे प्रयुक्त हुए है उनका यहाँ संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है।

## अनुप्रास

प्रगतिवाद में अनुप्रास का प्रयोग पर्याप्त मात्रा मे हुआ है किन्तु छेकानुप्रास और लाटानुप्रास का कम। अन्त्यानुप्रास तो हिन्दी के लिए साधारण और स्वाभाविक अलंकार है, अतः इसकी चर्चा की आवश्यकता ही नही। वृत्यानुप्रास का एक उदाहरण देखा जाय—

मन मिला तो मिल गये और मन हटा तो हट गये,
मन की इन मौजो पै, कोई भी नही मतभाद था।
(गुलाब और बुलबुल, त्रिलोचन, पृ० ३५)

नीचे की पंक्ति में 'म' व्यंजन की तीन बार आवृत्ति हुई है, अतः यहाँ 'वृत्यानुप्रास' अलंकार है।

## यमक

सार्थक रहने पर भिन्न स्वर व्यंजन समुदाय की क्रमशः आवृत्ति मे 'यमक' अलंकार होता है। यथा—

मेरा दिल ब दिल है कि हारा नही है।
कही तिनके का भी सहारा नही है।
(गुलाब और बुलबुल, त्रिलोचन, पृ० ४३)

यहाँ पहली पंक्ति मे 'हारा' का पराजित अर्थ होगा तथा दूसरी पंक्ति का हारा सहारा का खण्ड है, अतः निरर्थक है। स्वरूप में समानता रहते हुए भी अर्थ में भिन्नता है इसलिए यमक अलंकार हुआ।

## श्लेष

श्लिष्ट शब्दों से अनेक अर्थों का कथन श्लेष अलंकार कहा जाता है। हरि व्यास की निम्नलिखित पंक्तियों में इसका दर्शन किया जाए—

दूसरे पथ पर पड़ी हैं हड्डियाँ सर्बल
फैला हुआ भोले जनों का रक्त
द्रौपदी-सी चीखती हैं नारियाँ निर्वस्त्र
जिनके चीर दुःशासन कहीं पर
आया खीचकर। (साहित्य संदेश, अंक ४, १६५३)

यहाँ दुःशासन शब्द से ऐतिहासिक पुरुष दुर्योधन का भाई तथा बुरा शासन—दो अर्थ निकलते है, अतः इसमे श्लेष अलंकार है।

## उपमा

उपमान-उपमेय मे जहाँ चमत्कृत सौंदर्यमूलक सादृश्य-विधान रहता है, उसे उपमा अलंकार कहते हैं। यह अलंकारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इस अलंकार का एक प्रयोग मूर्ख देहाती की भाषा मे भी देखा जा सकता है। अतः इसका प्रयोग प्रगतिवादी कृतियों में भी भरपूर हुआ है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

हंस के समान दिन उड़कर चला गया
अभी उड़कर चला गया। (धरती, त्रिलोचन, पृ० १०२)

इसमें हंस उपमान है, दिन उपमेय, वाचक 'समान' तथा साधारण धर्म 'उड़कर चला जाना' है।

कोयले की खान की मजदूरनी-सी रात
बोझ ढोती तिमिर का विश्रांत-सी अवदात।
(राह के दीपक, रांगेय राघव, पृ० १६)

यहाँ रात उपमेय, कोयले की खान की मजदूरनी उपमान, साधारण धर्म तिमिर का बोझ ढोना तथा वाचक 'सी' है।

उपमानों के चयन में भी प्रगतिवाद की दृष्टि व्यापक तथा यथार्थोन्मुख है।

## रूपक

उपमान और उमेय के अभेद को रूपक कहा जाता है। श्री रामविलास शर्मा की इन पंक्तियों को देखिए---

यह खोल जलद के रजत पाल
तिरती अगाध नभ नील सिन्धु
थीको एकाकी चन्द्र वाल। (रूप तरंग, पृ० ४८)

'जलद के रजत पाल', 'नभ नील सिन्धु' तथा 'चन्द्रवाल' में रूपक के दर्शन होते हैं।

तुम कड़ी साधना में दधीचि को जीत चुके
कोई आए तुमसे सीखे। (प्यासी पथराई आँखें, नागार्जुन, पृ० ८)

उपर्युक्त पंक्तियों में 'अधिक रूपक' की अवस्थिति है।

## परिणाम

इसमें उपमान-उपमेय के साथ एकरूप होकर काम करता है। इन पंक्तियों को देखिए—

फूल मैत्री के खिले है, सुगन्ध छाई है
आज उल्लास मनुष्य ने नवीन पाया है।
(गुलाब और बुलबुल, त्रिलोचन, पृ० ६२)

'फूल मैत्री के खिले हैं, सुगन्ध छाई है' में उपमान 'फूल' उपमेय 'मैत्री' के साथ एकरूप होकर सुगन्ध बिखेरने का काम कर रहा है।

## संदेह

प्रस्तुत में अप्रस्तुत के संशय को सन्देह अलंकार कहते हैं। इस दृष्टि से दिनकर की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

वर्षों पहले एक दिवस उदयाचल
लाल हुआ जब उषा के आने से,
मुझे लगा मन मे, जो लोहित वसना
आती थी, सम्मुख साकार वही है! (हुङ्कार, पृ० ६२)

## उत्प्रेक्षा

उपमेय में उपमान की सभावना उत्प्रेक्षा अलंकार कहलाता है। श्री राम-

विलास शर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जाएँ—

हरियाली से घनी नीलिमा मिलकर
सिन्धु राग-सी छाई है केरल पर।
घनी धूम की गूँजें शिखर-शिखर पर,
झूम रहा हो मानों उन्मद कुंजर! (रूपतरंग, पृ० ८७)

यहाँ घनी धूम की गूंजों में गुंजर की संभावना व्यक्त की गयी है।

## उदाहरण

कही हुई बात के स्पष्टीकरण के लिए मिलती-जुलती दूसरी बात कही जाए तो उदाहरण अलंकार होता है। यथा—

ज्यों जन्म-मरण जंजालों से
हैं परे चन्द्र-सूरज-तारे
वे उसी तरह बापू तम में
किरणों का उदयाचल धारे। (विरामचिह्न, अंचल, पृ० ४४)

## अतिशयोक्ति

प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत रूमानी कवि धर्मवीर भारती ने अपनी 'उदास तुम' शीर्षक कविता में रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है; देखिये—

भवरों की पाँतें उतर उतर
कानों में झुककर गुनगुन कर
हैं पूछ रही—"क्या बात सखी?"
उन्मन पलकों की कोरों में क्यों दबी ढँकी बरसात सखी?
चम्पई वक्ष को छूकर क्यों उड़ जाती केसर की उसाँस?

यहाँ 'भँवरों की पाँतें' नायिका के बाल हैं, अतः उपमेय को छिपाया गया है।

## विषम

प्रसिद्ध छायावादी कवि जानकीवल्लभ शास्त्री की एकमात्र प्रगतिशील रचना छत्तीसवें 'मेघगीत में' 'विषम' अलंकार उपलब्ध होता है—

कुपथ-कुपथ रथ दौड़ाता जो, पथ-निर्देशक वह है,
लाज लजाती जिसकी कृति से धृति उपदेशक वह है
मूर्त दम्भ गढ़ने उठता है शील विनय-परिभाषा,
भरण रक्त-मुख से देता जन को जीवन की आशा,

कुपथ पर रथ दौड़ानेवाला पद-निर्देशक कैसे हो सकता है, अस्तु यहाँ दो बेमेल पदार्थों का सम्बन्ध दिखाया गया है।

## विशेषोक्ति

कारण के रहते हुए भी कार्य का न होना विशेषोक्ति कहलाता है। दिनकर की निम्नलिखित पंक्तियों में यह द्रष्टव्य है—

जो मङ्गल-उपकरण कहाते, वे मनुजों के पाप हुए क्यों ?
विस्मय है, विज्ञान विचारे के वर ही अभिशाप हुए क्यों ?

## उत्तर

यदि किसी प्रश्न का उत्तर चमत्कारिक हो तो 'उत्तर' अलंकार होता है। श्री रांगेय राघव की इन पंक्तियों में यह देखा जा सकता है—

जो जीत ले सब हार कर
ऐसा मसीहा कौन है ?
वह प्रेम है,.........(प्रगति, पृ० १२६)

## लोकोक्ति

जहाँ लोकोक्ति के रूप में कहावत अथवा मुहावरे का प्रयोग वाणी के सौंदर्य में वृद्धि करता है, वहाँ लोकोक्ति अलंकार होता है। श्री शिवमङ्गल सिंह 'सुमन' की "नई आग है" शीर्षक कविता में इसका प्रयोग हुआ है। इन पंक्तियों को देखें—

आओ, उठो, करो तैयारी
बाकी अभी तुम्हारी बारी
आहुति लाओ
आज दीप से दीप जलाओ
हाथ बढ़ाओ, लो मशाल, आगे बढ़ जाओ
दुनिया भर के पददलितों का हाथ बँटाओ ?

'पददलितों का हाथ बँटाओ' में लोकोक्ति अलंकार है।

## निदर्शना

जहाँ वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध सम्भव अथवा असम्भव होकर (अर्थ की सङ्गति के लिये) उनमें सादृश्य का आक्षेप करावे, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है। (अलंकार-मुक्तावली—देवेन्द्र शर्मा, पृ० १२१) इसे दिनकर की निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

लेना अनल किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले !
कालकूट पहले पी लेना, सुधा-बीज बोने वाले।
(हुँकार, पृ० २७)

## अप्रस्तुत प्रशंसा

क्षमा शोभती उस भुजंग को
जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दन्तहीन,
विष रहित, विनीत सरल हो।

यहाँ अप्रस्तुत साँप की चर्चा की गई है किन्तु उसके विशेष वर्णन से प्रस्तुत में यह सामान्य अर्थ प्रतीत होता है कि जो शक्तिशाली पुरुष हैं उसी में क्षमाशीलता का गुण शोभा पाता है, शक्तिहीन पुरुष की क्षमाशीलता कोई अर्थ नहीं रखती। अतः यहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार है।

## समासोक्ति

प्रस्तुत मे अप्रस्तुत की प्रतीति होने पर 'समासोक्ति' अलंकार होता है। श्री त्रिलोचन की निम्नलिखित रुबाई में इसे देखा जा सकता है—

फूल आया कि आ गये भौंरे
खबर कैसे ये पा गये भौंरे
उठके आषाढ़ के मेघों की तरह
घेर के घिर के छा गये भौंरे

फूल के आने पर भौरे आ जाते हैं और आषाढ़ के मेघ के समान घिर-घिरकर छा जाते हैं। यही प्रस्तुत वर्णन है। इस प्रस्तुत में फूल से किसी सुन्दरी के मुखड़े तथा भौंरों से आकर्षित लोगों की रसलुब्ध आँखों का संकेत मिलता है।

## व्यतिरेक

उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष वर्णन व्यतिरेक अलंकार होता है। श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की निम्नलिखित पंक्तियों में इसे देखिये—

कही मिलेगा तुमसे बढ़कर सुन्दरता का देश क्या
हो सकता है तुमसे बढ़कर पावनता का वेश क्या ?
(विरामचिह्न, पृ० ३४)

## स्वभावोक्ति

जो वस्तु जैसी है उसका ठीक वैसा ही वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार कहलाता है। इस अलंकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध है। नरेन्द्र शर्मा की 'गाँव की धरती' मे ग्रामीण नारी का चित्र देखिये—

सिर धरे कलेऊ की रोटी, लेकर कर मे मट्ठा की मटकी
घर से जङ्गल की ओर चली होगी बटिया पर पग धरती !
कर काम खेत में स्वस्थ हुई होगी तालाब में उतर, नहा
दे प्यार बैल को, फेर हाथ, कर प्यार, बनी माता धरती ! (पृ० ४४)

उपर्युक्त पक्तियो मे कलेऊ पहुँचाने वाली, जानवर को दाना-पानी देने वाली ग्रामीण माँ साकार हो उठी है।

## परिकर

जहाँ साभिप्राय विशेषण का प्रयोग हो, वहाँ 'परिकर' अलंकार होता है। उसके उदाहरण मे दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' से पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

निर्दोषा, कुल वधू, एक वस्त्रा को खीच महल से,
दासी बना सभा मे लाये दुष्ट द्यूत के छल से। (पृ० ६२)

द्रौपदी के लिये 'निर्दोषा' कुलवधू और एक वस्त्रा विशेषणों का प्रयोग उसके साथ किये गये अनुचित व्यवहार की ओर संकेत करने की दृष्टि से हुआ है।

## व्याजस्तुति

अगर निन्दा से स्तुति अथवा स्तुति से निन्दा का बोध हो तो 'व्याजस्तुति' अलंकार होता है। ये पक्तियाँ देखें—

तुम सुख-सुषमा के लाल
तुम्हारा है विशाल वैभव-विवेक
तुमने देखी है मान भरी
उच्छृङ्खल सुन्दरियाँ अनेक,
तुम भरे-पुरे, तुम हृष्ट-पुष्ट
ऐ तुम समर्थ कर्त्ता हर्ता,
तुमने देखा है क्या बोलो
हिलता-डुलता कंकाल एक ? (भैंसा गाडी, भगवतीचरण वर्मा)

यहाँ पर पूँजीपति की प्रशसा द्वारा निन्दा व्यक्त हुई है।

## विभावना

लक्ष्य-भ्रष्ट तीरों से खाली जो, ऐसा तूणीर,
मूठ रही बस कर में जिसकी, मैं ऐसी शमशीर !
कहने को भी नहीं रहा कुछ मेरी ऐसी पीर,
सूख चला जल जिसका, मैं ऐसी नदिया गंभीर।

(मिट्टी और फूल, नरेन्द्र शर्मा, पृ० ८०)

यहाँ कारण के अभाव में भी कार्य की स्थिति बतलाई गई है केवल मूठ तलवार नहीं कही जा सकती, जल से खाली नदी गम्भीर नदी नहीं हो सकती; अस्तु यहाँ विभावना अलंकार का दर्शन होता है।

## पर्याय

यदि एक वस्तु का अनेक वस्तुओं में अथवा अनेक वस्तुओं का एक वस्तु में क्रमशः रहना व्यक्त हो तो वहाँ 'पर्याय' अलंकार माना जायेगा। श्री केदारनाथ अग्रवाल की 'एक बसन्ती हवा' कितनी वस्तुओं के सम्पर्क में आती है उसकी एक झाँकी देख लीजिये—

चढ़ी पेड़ महुआ, थपाथप मचाया,
गिरी धम से फिर, चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा, किया कान में कू,
उतर कर भागी मैं हरे खेत पहुँची—
वहाँ गेहुँओं मे लहर खूब मारी,
पहर दो पहर क्या अनेकों पहर तक
इसी मे रही मैं। (युग की गंगा, पृ० ११)

## दीपक

शूल चुभते हैं छूते आग है जलाती, भू को
लीलने को देखो गर्जमान पारावार है;
जग मे प्रदीप्त है इसी का तेज प्रतिशोध
जड़-चेतनो का जन्मसिद्ध अधिकार है। (कुरुक्षेत्र, दिनकर)

यहाँ 'शूल चुभते हैं' तथा 'आग है जलाती' दो वाक्य हैं और इन दोनों का अन्वय 'छूते' पद से हो रहा है; क्योंकि छूते ही शूल चुभते हैं और छूते ही आग भी जलाती है। अस्तु इसमें 'देहली दीपक' अलंकार है। चुभने और जलाने की निष्पण्णता के निमित्त एक धर्म सम्बन्ध 'छूने' मे व्यंजित है।

## मानवीकरण

प्रकृति में अथवा अमूर्त भावों में चेतन-सत्ता का आरोपण कर उन्हें मानवी रूप प्रदान करना मानवीकरण कहलाता है। छायावाद मे इसका पूरा उपयोग हुआ है, किन्तु प्रगतिवाद मे भी इसके बहुत सारे उदाहरण उपलब्ध हैं। सुमन के प्रभात वर्णन में इसे देखा जा सकता है—

अति स्पष्ट पड़ती थी सुनाई
निर्झरों की ध्वनि विकल
थी मल रहीं पलकें उषा
मुख धो रहे थे सुमन दल
तृण, तरु, कुसुम, कलि, पल्लवों का गात सद्यस्नात था
कैसा मधुर सुप्रभात था। (जीवन के गान, पृ० २०)

उषा का पलकें मलना, सुमन का मुख धोना, तृण तरु, कुसुम, पल्लवों के गात का सद्यस्नात होना—ये सभी 'मानवीकरण' की पुष्टि करते हैं।

लानत है मजहब को
जो बनता मानवता का पहरेदार
जिसने दुर्बल पर हावी हो
आज किया मनमाना भक्षक व्यवहार।
- (बदलता युग, महेन्द्र भटनागर, पृ० २४)

यहाँ भी अमूर्त्त 'मजहब' को मानवीकृत भक्षक का रूप दिया गया है।

## विशेषण-विपर्यय

भावों को लाक्षणिक चमत्कार के साथ व्यक्त करने के निमित्त जब विशेषण को नियत स्थान से हटाकर अन्यत्र प्रतिष्ठित किया जाता है तो वहाँ 'विशेषण-विपर्यय होता है। यथा—

जिस दिन मेरी तापित तृष्णा बुझ जाएगी।
(पर आँखें नहीं भरी, सुमन, पृ० ८३)

'तृष्णा' के पहले 'तापित' विशेषण का प्रयोग बड़ा चमत्कारिक है।' तापित तृष्णा' से तृष्णा की ज्वाला में संतप्त हृदय का ही बोध होता है। अतः इसमें लाक्षणिकता है।

एक और उदाहरण दिया जा रहा है—

मैंने देखी

वह फक्कड़ भूख उदार प्यास
निःस्वार्थ तृषा। (चाँद का मुँह टेढ़ा है, मुक्तिबोध, पृ० १७८)

यहाँ 'फक्कड़ भूख', 'उदार प्यास' तथा 'निःस्वार्थ तृषा' में विशेषण विपर्यय द्रष्टव्य है।

## काव्य रूप

काव्य के प्रधानतः दो भेद किए गए हैं, प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध को कथात्मक काव्य कहा जाता है जिसमें मात्र कथावस्तु का विकास नहीं रहता अपितु हृदय को अभिभूत करने वाले प्रसङ्गों की चर्चा तथा जीवन के विविध व्यापारों की यथार्थमूलक रसपूर्ण व्यंजना भी अपेक्षित है। जब प्रबन्ध-रचना में युगानुकूल उदात्त विचार, महच्चरित्र, उदात्त भाव, उदात्त शिल्प, गरिमापूर्ण उदात्त शैली तथा समग्र जातीय जीवन के आयाम प्राणवन्त एवं समंजस रूप में उपलब्ध होते हैं तो उस कृति को हम महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित करते हैं। यदि प्रबन्ध में समग्र युग-जीवन नायक तथा अन्य पात्रों के वृत्तों में चित्रित नहीं हो पाता और न महाकाव्य के उपर्युक्त विशिष्ट लक्षण ही उपलब्ध होते तो उसे 'आख्यानक काव्य' अथवा श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार 'एकार्थ काव्य' कहते हैं। खण्डकाव्य में खण्डजीवन के चित्र ही मिलते हैं तथा अन्य लक्षण आख्यानक काव्य के ही रहते हैं।

प्रगतिवाद में रचित प्रबन्ध काव्य न महाकाव्य और न खण्डकाव्य के अन्तर्गत आते हैं। कुछ रचनाएँ अतिशय भावात्मक या प्रतीकात्मक होने से 'रूपक काव्य' के रूप में परिगणित होंगी। इस प्रकार प्रगतिवादी कवियों द्वारा प्रबन्ध के नाम पर केवल दो प्रकार की कृतियाँ प्रणीत हुई हैं—आख्यानक काव्य तथा रूपक काव्य।

मुक्तक काव्य में सर्गबद्धता, प्रबन्ध का विस्तार तथा कथात्मकता नहीं रहती; कवि के संवेग-पूर्ण विचार तथा भावना से इसका अधिक सम्बन्ध रहता है। इसके प्रधानतः दो भेद किए गए हैं—पाठ्य मुक्तक और गेय मुक्तक। किन्तु गेयता पाठ्य मुक्तक में भी रह सकती है, अतः यह नामकरण उपयुक्त नहीं जँचता। आजकल पढ़कर सुनाई जाने वाली कविता को हम 'मुक्त' अथवा 'कविता' तथा गेय मुक्तक को 'गीत' कहते हैं। प्रगतिवाद में इन दोनों प्रकार की विधाओं की कृतियाँ उपलब्ध हैं।

## प्रगतिवाद के आख्यानक काव्य

प्रगतिवादी कवियों में केवल दो व्यक्तियों द्वारा आख्यानक काव्य लिखे गए, वे हैं दिनकर और रांगेय राघव। दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' तथा 'रश्मिरथी' नामक दो प्रगतिशील आख्यानक काव्य हैं। कुरुक्षेत्र की प्रधान समस्या युद्ध है और उस पर

विद्वान कवि ने विचार करते हुए उसके कारण तथा समाधान जो प्रस्तुत किये हैं, वे युगानुकूल तथा प्रगतिवादी सिद्धान्त के बहुत अनुकूल पडते है। अतः 'कुरुक्षेत्र' को प्रगतिवाद का आख्यानक काव्य कहने में हिचक नहीं होनी चाहिये।

'रश्मिरथी' के कर्ण को कवि ने उपेक्षितो का नेता बनाना चाहा था किन्तु बनाने मे वह असमर्थ रह गया। दलितों का नेता वैयक्तिक मान-अपमान की परवाह न कर सामाजिक हित का ख्याल रखता है और उसी के अनुरूप वह अपना मार्ग भी बनाता है। कर्ण वैयिक्तक मान-अपमान का शिकार उद्धत वीर है जो एक सीधे हृदय वाले देहाती पहलवान की ही भूमिका निभा पाता है। अतः 'रश्मिरथी' को प्रगतिवादी कृति कहने मे थोड़ी हिचक अवश्य होगी। (ऐसे तो श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने कुरुक्षेत्र को भी प्रगतिवादी रचना कहने में थोड़ी हिचक प्रकट की है—कुरुक्षेत्र में युद्ध सम्बन्धी वास्तविकता का यथेष्ट आकलन नही है, न उसमे युद्ध-विषयक नयी समाजवादी दृष्टि का ही पूरा निरूपण है।—नन्ददुलारे वाजपेयी) शिल्प और प्रबन्धत्व की दृष्टि से दिनकर की दोनो कृतियाँ बहुत सफल रही हैं। कुरुक्षेत्र बहुत महत्वपूर्ण कृति मानी गई है।

श्री रागेय राघव के आख्यानक काव्य 'अजेय खंडहर', 'मेधावी', 'रूपछाया' और 'पाचाली' है। 'अजेय खडहर' मे स्तालिनग्राद के युद्ध का सजीव वर्णन हुआ है और साथ ही भारतीय स्वतंत्रता-सघर्ष को उससे जोड़कर देखने का प्रयास किया गया है। 'मेधावी' मे दर्शन, भूगोल, इतिहास, काव्य, समाज-शास्त्र आदि का सम्मिश्रण है जिससे यह कृति चिन्तन-प्रधान एवं ऊब पैदा करने वाली हो गई है। अतः यह बहुत सफल रचना नही कही जाएगी। 'रूपछाया' में कोई महत्वपूर्ण समस्या अथवा समाधान उपलब्ध नही होता जिसका युग की प्रगतिशील चेतना से सीधा सम्बन्ध रहा हो। कुबेर वैश्रवण का पुत्र नलकूबर रंभा पर मुग्ध हो गया और रंभा ने भी आकर्षित होकर उसका आमन्त्रण स्वीकार लिया। प्रियमिलन को जाते समय रावण ने उसके साथ बलात्कार किया। शिव के पास शिकायत पहुँचने पर रावण ने भविष्य में किसी नारी का अपमान न करने की प्रतिज्ञा की। बस यही इस रचना का कथासार है। शिल्प छायावादी है और भाषा मे कसावट की कमी, फिर भी काल्पनिक चित्र अच्छे बन पड़े हैं। 'पाचाली' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, 'द्रौपदी' के दुःशाला के पति जयद्रथ को प्रगतिशील दृष्टिकोण से नवीन व्यक्तित्व देने की चेष्टा की गई है।

श्री रागेय राघव मे रचना-कौशल तथा काव्य सौष्ठव का अभाव दीखता है। अतः उनकी कोई कृति बहुत उल्लेखनीय नहीं है।

## रूपक काव्य

रूपक काव्य में पात्रों के माध्यम से कवि अपने अपने भावों की उन्मुक्त अभिव्यंजना करता है। दो-तीन पात्र ही प्रायः पाये जाते हैं। दो पात्रों द्वारा भावों के प्रस्तुतीकरण को 'संलाप' कहते है और जब एक ही पात्र रहता है तो उसके भाव-कथन को 'एकालाप' की संज्ञा दी जाती है।

गिरिजाकुमार की 'इन्दुमती', भारतभूषण अग्रवाल की 'शान्तिपथ', दिनकर की 'हिमालय का संदेश', उदय शंकर भट्ट की 'विश्वमित्र', 'राधा', 'मत्स्यगंधा' तथा 'एकला चलो रे' आदि कृतियाँ 'रूपक काव्य' ही कही जाएँगी। (प्रगतिशील हिन्दी कविता—दुर्गाप्रसाद झाला, पृ० २५४)।

## मुक्तक

प्रगतिवादी कवियों ने तो प्रधानतः मुक्तकों की ही रचना की, अतः तत्संबंधित चर्चा आवश्यक नही प्रतीत होती। मुक्तक-रचना ही प्रगतिवादियो की प्रधान प्रवृत्ति रही है। छन्द तथा मुक्त छन्द दोनों मे असख्य कविताएँ लिखी गई।

## गीत

गीत लिखने मे अधिकांश प्रगतिवादी कवियों ने 'बच्चन' तथा 'निराला' का, अनुकरण किया है और शिवमंगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, शील, त्रिलोचन रागेय राघव, गिरिजाकुमार माथुर आदि गीतकारों ने इसके शिल्प, शैली तथा विषय-वस्तु मे अपने-अपने ढङ्ग के परिवर्तन भी उपस्थित किए। इन्हें गीति-सृष्टि मे पर्याप्त सफलता भी मिली है। इनकी मूल प्रवृत्ति यथा-सभव सामाजिक भावना को प्रश्रय देने, सरल भाषा का प्रयोग करने तथा लोकधुन अपनाने की रही है। हिन्दी के अपने संस्कारानुकूल गीत-योजना के अतिरिक्त सानेट और गजल को भी स्थान मिला है।

सप्तम प्रकरण

# प्रगतिवाद की न्यूनताएँ और उपलब्धियाँ

वस्तु, शैली और भावगत विशिष्ट प्रवृत्ति की व्यापकता को ध्यान में रखकर ही किसी अवधि में रचित काव्य को किसी 'वाद' से हम सम्बद्ध कर देते हैं। सन् १९३५-३६ से लेकर सन् १९५० तक की अवधि में जो सर्वप्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति देखने को मिली, लोगों ने उसे प्रगतिवाद कहकर पुकारा। इस युग में बहुत से छायावादी, राष्ट्रीयतावादी और प्रयोगवादी कलाकारों को भी प्रगतिवादी कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। छायावादी कलाकारों में निराला और पन्त के नाम प्रमुख हैं। राष्ट्रीयतावादी रचनाकारों में सर्वश्री रामधारी सिंह 'दिनकर', जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', भगवतीचरण वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, सोहनलाल द्विवेदी, रामदयाल पाण्डेय, कलक्टर सिंह 'केसरी' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। 'तारसप्तक' के सभी कवियों को प्रगतिवादी ही कहा गया जिसमें से कितने को समय ने प्रयोगवादी प्रमाणित कर दिया है। प्रयोगवादियों को प्रगतिवादी कहने का जो भ्रम उत्पन्न हुआ उसका मूल कारण प्रयोगवादियों का भौतिकवादी दृष्टिकोण है। सो मैं यह कहना चाह रहा हूँ अब जो प्रगतिवाद की समीक्षा की जाये उसमें इतना ध्यान अवश्य रहे कि जो प्रधानतः अन्य धाराओं और गौणतः प्रगतिवाद के कृतिकार हैं उनकी दुर्बलताओं को प्रगतिवाद की दुर्बलता नहीं मान ली जाये।

प्रगतिवादी न्यूनताओं अथवा उपलब्धियों की चर्चा करने के पहले एक बात और ध्यान देने की है और वह यह कि प्रगतिवाद के युग की सीमा को मानकर चलना आवश्यक है। यद्यपि आज भी प्रमुख प्रगतिवादी साहित्यकार काव्य-सृजन कर रहे हैं तो भी उनकी रचनाएँ 'नई कविता' की परिधि के अन्तर्गत ही परिगणित होंगी; क्योंकि उनकी वस्तु और अभिव्यंजना शैली प्रगतिवादी युग से सर्वथा भिन्न हैं। इस कथन के साथ ही यह प्रश्न उठता है, क्या साहित्य में मार्क्सवाद का प्रभाव समाप्त हो गया और मार्क्सवादी नैतिकता से सम्पन्न साहित्यिकवाद प्रगतिवाद सन् '५० के बाद जीवित नहीं रहा। इसके उत्तर में मैं इतना ही कहना

प्रगतिवाद को जब तक अपनी अस्मिता का बोध हो रहा था वह सशरीर वर्तमान था, किन्तु जब से उसे स्वतन्त्र चिन्तन की वैज्ञानिकता तथा संवेदनापूर्ण मनोवैज्ञानिक सत्य की अनुभूति प्राप्त हुई, वह साहित्य-सृजन की विभिन्न धारणाओं में प्राण बन कर समाहित हो गया है।

छायावाद और प्रगतिवाद दोनों ने हिन्दी भाषा में उच्चस्तरीय काव्य प्रणयन के लिये मूलभूत सौंदर्य-दृष्टि प्रदान की है और आगे की कविता इन्हीं दोनों की खाद से पल्लवित पुष्पित हो रही है—इसे अस्वीकार करना हमारी भूल ही कही जायेगी। आज कला के क्षेत्र में भी जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण और स्वतन्त्र चिन्तन की चर्चा है वह भी प्रगतिवाद की प्रेरणा का ही प्रतिफल है। प्रगतिवाद की न्यूनताओं का अध्ययन प्रस्तुत करने के पूर्व इतना स्पष्टीकरण मैं अपेक्षित मानता था। अब आगे हम विवेच्य विषयवस्तु पर आयेंगे।

आर्थिक और सामाजिक वैषम्य मिटाने के हेतु मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रभावित होते हुए भी हमारे सभी हिन्दी कवियों ने सम्मिलित रूप से मार्क्सवाद को अथवा मार्क्सवादी कला सिद्धांत को ही स्वीकारा, परिणामस्वरूप प्रगतिवाद के चार-पाँच रूप उभर आये। वे हैं—निराला का प्रगतिवाद, पन्त का प्रगतिवाद, राष्ट्रीयतावादी कवियों का प्रगतिवाद, यौनवादी कवियों का प्रगतिवाद तथा मार्क्सवादियों का प्रगतिवाद।

निराला जी अध्यात्मवादी थे और अध्यात्म से कभी एक इञ्च भी इधर-उधर टस-मस नहीं हुए—उन्होंने समाज के निष्प्राण संस्कारों के स्थान पर नवीनता की स्थापना के लिये, दलित-पीडित वर्ग के उत्थान हेतु प्रगतिवाद को अपनाया। निराला के प्रगतिवाद की न्यूनता वहीं परिलक्षित होती है, जहाँ वे अपनी कलात्मक ऊँचाई से उतर कर सुसताने लगे हैं। उदाहरणस्वरूप 'गीतिका' में 'छोड़ दो जीवन यों न मलो' तथा बेला के लगभग सभी गीत देखे जा सकते हैं। दूसरा अभाव उनके प्रगतिवादी गीतों में लोकगीत-जैसी युगानुकूल सरसता का है। ऐसे तो मार्क्सवाद के अनुसार मधुर भाषा का प्रयोग करना भी एक पूँजीवादी दुर्बलता ही है, तो भी उसे इतना रूक्ष नहीं होना चाहिये कि पीड़ित वर्ग की जुबान भी उसे संजो पाने में असमर्थता का अनुभव करे।

पन्त जी विचार-क्षेत्र में बहुत बदलते रहे हैं। उनका जीवन-दर्शन प्रगतिवाद के संदर्भ में येन-केन-प्रकारेण कल्याणवाद कहा जा सकता है। वे मानव कल्याण के लिये गाँधी और मार्क्स दोनों पुरुषों की आवश्यकता मानकर चलते हैं—

मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।

*(युगवाणी, पन्त, पृ० २८)*

इनका प्रगतिवाद अपने पुराने छायावदी शिल्प-विधान से कभी अलग न हो सका। दलितो के चित्रण में जिस यथार्थवाद का दर्शन होता है उसमे हार्दिक सवेदना का अभाव है। उनकी 'युगवाणी' मे तो सिद्धांत-निरूपण ही अधिक हुआ है। काव्य-सृजन नहीं के बराबर। आगे चलकर उन्होने प्रगतिवाद मे अपना पिड छुडा लिया और पुनः अपनी पुरानी राह पर लौट गये। यो भी साम्यवाद की खूनी क्रांति को उन्होने कभी पसन्द नही किया। राष्ट्रीयतावादी कवियो मे प्रायः सभी गाँधीवादी है, किन्तु सन् १९३४ तक गाँधी का प्रयोग देख लेने के बाद वे सभी मार्क्सवादी-सशस्त्र क्राति में विश्वास करने लगते हैं, अर्थात् दासता का बन्धन तोडने के लिये गोरे शासन और उनके सहयोगियो के प्रति सशस्त्र-विद्रोह चाहने लगते हैं। इसीलिये उनकी रचनाओ मे महाप्रलय और विध्वंस की अभिलाषा मुखर है। प्रधानतः ये भारतीयता के पुजारी हैं और इनकी कविताओ मे राष्ट्र-प्रेम अधिक प्रबल है। छायावाद से भिन्न द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक शैली का विकसित एवं प्रांजल रूप इन कवियों की भाषा मे विविधता के साथ उभरा है। हिन्दी मे राष्ट्रीयता की धारा प्रवाहित होती हुई छायावादी युग से जब आगे समाजवाद के प्रभाव-क्षेत्र की ओर बढ़ी तो उसी का युगानुकूल परिवर्तित एवं विकसित रूप 'प्रगतिवाद' अस्तित्व में आया। इसके मतवाद से परे स्वाभाविक रूप का परिचय हमे इन्ही राष्ट्रीय कवियो की रचनाओ में प्राप्त होता है। सामन्त, जमीदार तथा पूँजीपति अँग्रेजी शासन का शोषण-दोहन मे साथ दे रहे थे इसलिये स्वभावतः वर्ग-भावना भी इनकी कविता में मुखरित हुई। लेकिन ये सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व नही चाहते, इन्हे शोषणरहित लोकतांत्रिक व्यवस्था विशेष प्रिय है।

राष्ट्रीयतावादी कवियों की रचनाएँ भावुकता-प्रधान और ओजगुण-सम्पन्न होने के कारण प्रचारवादी साहित्य से अवश्य ऊँची उठ गई हैं। फिर भी उनकी कृतियो में उस कला का सर्वथा अभाव है जिससे विद्रोह-भावना अथवा पीड़ितों के प्रति संवेदना स्वतः स्फूर्त होती है। यथार्थ चित्रण मे भी आदर्शवादी भावुकता अधिक सक्रिय है। इनकी काव्य-वस्तु का क्षेत्र भी सीमित रह गया है। मनोवैज्ञानिक यथार्थ को तो इन्होने छुआ तक नही।

यौनवादी कवियों का प्रगतिवाद प्रेम की अभिव्यक्ति मे अतिशय मांसलता को

प्रश्रय देता है। इसमें स्त्री-पुरुष के गोपनीय प्रेम-व्यापार पवित्र माने गये हैं और कवियों ने अपनी यौन-भावना को साहस के साथ स्वर प्रदान किया है। इसके प्रथम पुरस्कर्ता हालावादी बच्चन ही कहे जाएँगे, किन्तु कविता को यौनवादी स्तर तक पहुँचाने का श्रेय श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' को मिलेगा। इसी कोटि में श्री नरेन्द्र शर्मा भी गिने जाएँगे। इस यौनवादी प्रगतिवाद के सम्बन्ध में श्री वेणीमाधव मिश्र ने लिखा है कि "अंचल जी के आश्रय में आकर प्रगतिवाद ने यौनवाद की रूपरेखा ग्रहण की जिसमें वासना से रंजित हाव-भाव और सीमाओं का अतिक्रमण करने वाला कथोपकथन ही प्रमुख तत्व रहा है।" (प्रगतिवाद की प्रवृत्तियाँ—छायावाद और प्रगतिवाद, सं० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ०, १४५)

इस प्रगतिवाद की सबसे बड़ी दुर्बलता यही यौनवाद है। इसमें यथार्थ चित्रण के नाम पर अश्लील एवं कलुषित यौन भावनाएँ ही अभिव्यक्त हुई हैं जो तरुण वर्ग को बहकाने के लिये पर्याप्त हैं। यौन भावना की नग्न अभिव्यक्ति कालिदास की कृतियों में भी मिलती है किन्तु वह इतनी कलात्मक है कि पाठक उत्तेजित न होकर उसके स्वस्थ रूप से आह्लादित हो उठता है। इन प्रगतिवादियों की रचनाओं से तो रति की दुर्गन्ध आती है। इन लोगों ने बाल-रति और सम-रति तक की चर्चा कर दी है। काव्य में ऐसी मर्यादाहीनता भर्त्सना योग्य एवं निन्दनीय है।

मार्क्सवादी प्रगतिवाद राजनैतिक मतवाद से प्रभावित होने के चलते असाहित्यिकता का शिकार हुआ। चूँकि साम्यवादियों में प्रगतिवादी काव्य-सृजन को साम्यवादी उपज कहकर प्रचारित किया और साथ ही यह भ्रम भी फैलाया कि जो साम्यवादी अथवा मार्क्सवादी हैं वही प्रगतिवादी रचना कर सकते हैं; परिणाम-स्वरूप पूरा प्रगतिवादी आंदोलन ही बदनाम हो गया। इसी कारण प्रगतिवाद की जब भी आलोचना हुई है, उसमें साम्यवादियों को ही ध्यान में रखकर न्यूनताएँ गिनाई गई हैं।

श्री नलिन विलोचन शर्मा ने अपने "प्रगतिवाद की मान्यताएँ" शीर्षक लेख में प्रगतिवाद की आलोचना करते हुए लिखा है—

"तो आज के कवि के बारे में—प्रगतिवादी कवि के बारे में—अगर दो टूक बात कही जाय तो ये तीन-चार तथ्य स्पष्ट हैं—

(१) वह वीर पूजा करता है।

(२) वह जन-पूजा में अन्ध विश्वास रखता है।

(३) वह कुछ सुनिश्चित सिद्धांतों में बँधा हुआ है।

(४) वह घृणा से प्रेरणा प्राप्त करता है। (छायावाद और प्रगतिवाद—सं० देवेन्द्र नाथ शर्मा, पृ०, १५०)

नलिन जी के उपर्युक्त कथन मे सच्चाई अवश्य है किन्तु ये सारी बातें रूसी लेखकों और कवियो के साथ विशेष लगाव रखती हैं; क्योंकि हमारे यहां के प्रगतिवादी कवियो ने लेनिन अथवा स्तालिन की पूजा का उतना नारा नही लगाया और न जन-पूजा को ही अन्धविश्वास के स्तर तक उठाया है। साम्यवादियो की रचनाएँ कुछ हीं सीमा तक सही, श्री नलिन विलोचन शर्मा की आलोचना को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार किसी भी महापुरुष अथवा वीर पुरुष का प्रादुर्भाव अकस्मात नही होता और न उनके गुण अलौकिक हुआ करते है। 'प्रत्युत्' वे सभी समाज की देन है और युग की माँग ही ऐसे व्यक्तित्व के अवतरण को अनिवार्य कर देती है। अतः श्रेष्ठ समाज है न कि वीर पुरुष। पूजा समाज की होनी चाहिये न कि वीर पुरुषों की। लेकिन व्यवहार में देखा गया कि भारत के भी जनवादी कवि रूस के लेनिन, स्तालिन का गुणगान करते नही थकते।

प्रगतिवादी कवियों मे प्रायः ऐसे लोगों ने जनता-जनार्दन की पूजा-अर्चा, दैन्य-चर्चा करने का ढोंग रचा है जिन्होने कभी उनके सम्पर्क मे आकर उनके जीवन को परखा-निरखा नही है। अतः स्वभावतः उनकी कृतियाँ अनुभूतिशून्य रह गई हैं।

मार्क्सवाद निस्संदेह इस युग के लिये सर्वाधिक प्रगतिशील सिद्धात रहा है। लेकिन रचनाकार जब मार्क्सवाद को बिना समझे उसको नारेबाजी का शिकार बना देता है, तो साहित्य का भी स्वभावतः बडा नुकसान होगा। दाँव-पेच की राजनीति जब हावी हो जाती है, तो साहित्य का और अधिक नुकसान होता है। प्रगतिवाद इस कुप्रवृत्ति का शिकार था, उसकी रचनाओ मे साहित्यिक मूल्य के स्थान पर राजनीतिक मूल्य की वृद्धि होने से हमें श्रेष्ठ साहित्य नही प्राप्त हो सका।

साम्यवादी प्रगतिवादियो ने काव्य-सृजन के लिए घृणा को प्रेरणा-स्वरूप भी ग्रहण किया है। स्तालिन के चरणचिह्न पर चलने वालो के लिये, पूंजीपति तथा साम्राज्यवादी शत्रुओ को परास्त करने के निमित्त हृदय मे घृणाभाव भर लेना आवश्यक माना गया है। हमारे प्रगतिवादियो ने भी गाली-गलौज की भाषा मे बात-चीत प्रारम्भ कर दी।

साम्यवादो प्रगतिवादियो पर से जनसाधारण का विश्वास उठ गया था। इसके

दो मूल कारण थे; प्रथम सन् '४२ की जन-क्रान्ति का विरोध और द्वितीय भारत के विभाजन का समर्थन।

यौन-भावना के अश्लील चित्रण से भी प्रगतिवादी साहित्य कलुषित हुआ है।

अब तक की विवेचित दुर्बलताओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रगतिवादी आन्दोलन में कुछ सामान्य न्यूनताएँ परिलक्षित होती हैं जो प्रधानतः कला और काव्यमूल्य से सम्बन्धित हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन में समसामयिकता का आग्रह इतना बढ़ा कि नीति में क्षणक्षण घटित परिवर्तनों से जनता का सन्देह इस आन्दोलन के प्रति गहरा गया। राजनीति के प्रभाव ने काव्यमूल्य में गिरावट ला दी। लोगों ने इस प्रकार का प्रचार-साहित्य पढ़कर प्राप्त आनन्द को तास के खेल में होनेवाले मनोरंजन से अधिक नहीं समझा।

प्रगतिवाद की कलात्मक ऊँचाई के विषय में श्री रामदरश मिश्र ने लिखा है कि "प्रगतिवाद, भावबोध और यथार्थबोध के नये स्तरों को उभारने के बावजूद अनेक बार कलात्मक ऊँचाई प्राप्त करने में असमर्थ रहा।"

छायावादी, जीवन के हलचल से दूर रहने के चलते कवि के मनोविलास की कृत्रिम रंगस्थली बन गया था, उसमें यथार्थ जीवन की हिमकणी प्रभात चेतना का अभाव था। प्रगतिवाद उस कृत्रिमता की अर्गला खोलकर धरती की सम्पूर्ण हलचल को वाणी प्रदान करने के लिए आगे बढ़ा किन्तु कुछेक वस्तुओं को ही आलिंगित कर जोश में चिल्लाता रह गया। परिणामस्वरूप छायावाद की तरह इससे भी जीवन की अनन्तता अछूती रह गई।

यद्यपि सामाजिक यथार्थ पर दृष्टि रखते हुए क्रान्ति को प्रोत्साहित करना प्रगतिवाद का उद्देश्य था, किन्तु इसके साहित्य में सामाजिक यथार्थ का वाह्य रूप ही अभिव्यक्ति में स्थान पा सका, आन्तरिक सत्य अनावृत्त होते-होते रह गया।

प्रगतिवादी नारेबाजी और ससंकारवाद के चक्कर में पड़कर स्थायी मूल्य के साहित्य-सृजन का श्रेय नहीं पा सका। सस्ती भावुकता कृतियों में छायी रही।

इसमें सन्देह नहीं कि बिंबात्मक शैली में भी कुछ महत्वपूर्ण प्रगतिवादी रचनाएँ देखने को मिलती हैं किन्तु अधिकांश में इतिवृत्तात्मकता का आग्रह कला से ह्रास का कारण बना।

हिन्दी जगत में प्रगतिवादी आन्दोलन मार्क्सवाद से प्रभावित-प्रेरित होते हुए भी लगभग सिद्धान्तहीनता से ग्रस्त रहा। छायावादी कवियों में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला तथा समाजवादी कवियों में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन शास्त्री,

रामविलास शर्मा, रांगेय राघव ही ऐसे है जिन्हे सिद्धान्तहीन नही कहा जा सकता, अन्यथा सभी जाने-अनजाने सिद्धान्तविहीनता की स्थिति में रहकर कविता लिखने वाले थे । जो अपने को सिद्धान्तवादी कहते, वे भी समाजवाद को ठीक से नही समझ रहे थे और जो कुछ रूसी लेखकों की उनकी सरकार द्वारा बहु-प्रचारित कृतियाँ उपलब्ध होती, उन्हें ही आदर्श मानकर लेखन-कार्य करते । स्तालिन की घोषणा का प्रभाव बहुत गहरा पड़ता । किन्तु सिद्धान्तविहीनता का सर्वाधिक दोष राष्ट्रीयतावादी कवियो के माथे मढा जाएगा ।

लोगों को सामाजिक यथार्थ से परिचित कराने का श्रेय प्रगतिवाद को अवश्य मिलेगा । किन्तु इसके बहुत से कवियों ने सामाजिक यथार्थ के बदले प्रकृत यथार्थवाद के अनुरूप साहित्य-सृजन किया । प्रकृत यथार्थवादी किसी वस्तु की बाह्य स्थिति का यथावत् चित्रण कर देता है किन्तु उसके भीतर कौन-सी क्रान्तिकारी शक्ति सक्रिय रहती है, उसे वह नही देख पाता । अतः उसके द्वारा चित्रित यथार्थ निराशा और कुंठा के अंधकार से आवृत्त रहता है । सामाजिक यथार्थवाद क्रान्तिकारी शक्तियों से अवगत रहने के कारण समाज को गतिहीन स्थिति से बाहर निकलने के संघर्षपूर्ण मार्ग को प्रशस्त करता है । 'रमण' की कृति 'मास्को' तथा अंचल के पाल मैकू के नृशंस यौन आचरण को पढकर प्रकृत यथार्थवाद को अच्छी तरह समझा जा सकता है ।

उपर्युक्त विवेचित न्यूनताओ के बावजूद प्रगतिवाद की उपलब्धियाँ भी अनेक हैं, जिसका मूल्य कभी कम करके नही आंका जा सकता ।

छायावाद में हम 'सुन्दरम्' को विशेष रूप मे प्रतिष्ठित होते देखते है । प्रगतिवाद मे 'सत्यम्' और 'शिवम्' को प्रधानता मिली है । साहित्य जो मात्र मनो-विलास की सामग्री बना हुआ था, प्रगतिवादी आन्दोलन के दौर में जन-जीवन को प्रभावित कर गति और विकास के लिए प्रेरणा का स्रोत बना और समाज मे क्रान्ति-कारी परिवर्तन के लिए सक्रिय भूमिका निभाने का व्रत लिया ।

जगत का कोलाहलपूर्ण वातावरण छायावादी कलाकारों के कोमल चित्त को अत्यधिक त्रासित करता था अतः प्रतिक्रियास्वरूप प्रगतिवाद जगत और जीवन का आकर्षण लेकर उपस्थित हुआ । इस साहित्यिक आन्दोलन ने उदासीनता और नैराश्य के स्थान पर क्षोभ और जागरूकता को अपनाया । इसने कभी भी परलोक की चिन्ता नही की । स्वर्ग के आदर्श को धरती पर ही फलीभूत करने के लिए समाज के संघर्ष का इसने अभिनन्दन किया और साथ ही उसका दिशा-निर्देशन कर गतिशीलता प्रदान की है । दिनकर जी ने छायावाद की गगनचारिता का मनवारते हुए लिखा—

व्योम कुंजों की परी अभि कल्पने !
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं।
टिक न सकती मृत्तिका आकाश में
शक्ति हो तो आ बसा अलका यहीं। (रेणुका)

साहित्य मे इसे प्रथम बार समाज की आर्थिक समस्या सुलझाने के लिए कवियों ने जनता को क्रान्तिपथ का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसके पहले इतने वृहत् रूप से कभी साहित्य में राजनीति को स्वीकृति नही मिली थी। इसका यह तात्पर्य नहीं कि साहित्य में राजनीति का प्रवेश एक महान उपलब्धि है। लेकिन एक नये यथार्थ बोध का मार्ग तो अवश्य प्रशस्त हुआ, इसे कौन नहीं स्वीकारेगा ? यह सही है कि इस राजनीति ने प्रगतिवाद को कला की दृष्टि से कमजोर किया तो भी सर्वहारा के हित की चर्चा को जो व्यापकता मिली है उसे देखकर सर्वहारा वर्ग इस प्रगतिवादी आन्दोलन को भूल नही सकता।

प्रगतिवाद ने नवीन तथा व्यापक भाव-बोध का मार्ग प्रशस्त किया। भावना स्फुरित करनेवाला मात्र प्राकृतिक सौंदर्य अथवा नर-नारी का पारस्परिक आकर्षण ही नही है, प्रत्युत् समाज की अर्थव्यवस्था भी जिसमे अर्थ-सुख-सुविधा के असमान बँटबारे से, शोषण-उत्पीड़न से जन-मानस उद्वेलित होता रहता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति की मनोभूमि पर बाह्य परिवेश, वातावरण तथा देश-काल की विभिन्न स्थितियों की प्रतिक्रियाएँ विभिन्न भावनाओं को जन्म देती रहती है। उन भावनाओं को सामाजिकता, आशा-आकांक्षा और जिजीविषा के रंग को बिना फीका बनाये अभिव्यक्ति देने का मार्ग प्रगतिवाद ने ही प्रथम बार उन्मुक्त किया।

प्रगतिवाद में नये भावबोध का सीधा संबंध यथार्थ बोध से है। यथार्थबोध हमें दृष्टि से आदर्शवादी कल्पना का रंगीन चश्मा उतारकर देखने के लिये बाध्य करता है। एक उदाहरण लीजिये। वसंतागम के साथ ही कवि प्रायः हल्ला करने लगते हैं कि सर्वत्र फूलो की रंगीनी, पत्तियो की हरियाली और वातावरण की मादकता प्राणों मे हर्ष-उल्लास का सृजन कर रही है। किंतु यथार्थ कुछ इससे भिन्न ही दृष्टिगोचर होगा। हम देखते है कि पेड़ों से पीले पत्ते झर रहे है। गेहूँ के खेतो मे पीलापन छा गया है, धान कट जाने, खेसारी, मटर उखाड लिये जाने से दूर-दूर तक फैला हुआ धन खेत उजाड़ा-सा लगता है। गरीबो को चिंता है कि अनाज कुछ बचाया जाय कि ग्रीष्म ऋतु मे पेट भर सके। तो, यथार्थ को जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि हमे प्रगतिवाद से प्राप्त हुई, यह बात भी एक यथार्थ है।

यथार्थ चित्रण के लिये कवि को आत्मविवृति की चाह से मुक्त होना अपेक्षित है। अर्थात् उसकी दृष्टि वस्तून्मुखी होनी चाहिये, प्रगतिवाद मे छायावादी आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर हम वस्तून्मुखी प्रवृत्ति का दर्शन करते है। यही प्रवृत्ति साहित्य को जीवन की सचाई तक पहुँचाकर सत्य के सौंदर्य से मडित करने मे सहयोग देती है। आत्मोन्मुखी अर्थात् व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाने के चलते छायावाद समाज से पूर्णतः अलग-थलग पड गया था। यही व्यक्तिवाद अहंकार और पलायनवाद का भी जनक प्रमाणित हुआ। इसी व्यक्तिवाद से 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का जन्म होता है और साथ ही सीमा का अतिक्रमण कर लेने पर यह वैयक्तिक कुंठाओं, अश्लीलता और उद्दाम वासना को अभिव्यक्ति देकर समाज मे पतनोन्मुख प्रवृत्ति के उदय का कारण बन जाता है। प्रयोगवाद इसी की देन है।

प्रगतिवादी युग के पहले लोक-जीवन लगभग उपेक्षित रहा था। काव्य-क्षेत्र में उसे सजीवता से चित्रित करने का श्रेय प्रगतिवाद को है। जनसाधारण के हर्ष-उल्लास, वेदना-पीडा निकट से देखने-परखने का व्यापक प्रयास प्रथम बार इसी साहित्यिक आदोलन ने किया है। प्रगतिवाद में राष्ट्रीयता का आदर करते हुए अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा की और इस धरती के मानव-कुल की श्रीवृद्धि के लिये समता का संदेश पहुँचाकर व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। वह समता का उपदेशक मात्र नही, प्रत्युत् सामाजिक और आर्थिक समता की उपलब्धि हेतु वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य मानते हुए दलित-दोहित वर्ग का पक्षधर बना। इसी कारण इसमे जीवन की उष्णता महसूस होती है।

छायावाद की परिनिष्ठित भाषा के स्थान पर जनभाषा को अपनाने का प्रयास सर्वप्रथम 'बच्चन' ने किया था। किन्तु जनसाधारण में जागरुकता लाने के उद्देश्य से लिखे गये काव्य के लिये माध्यम बनाने का श्रेय प्रगतिवादी कवियो को ही है। यह उपलब्धि अपने मे कम महत्वपूर्ण नही। साहित्य प्रणयन इसलिये होता है कि उसे पाठक मिले और उनमें अपनी ज्योति बिखेर कर प्रबुद्धता प्रदान की जाये। किन्तु जब भी साहित्य का सम्बन्ध जनभाषा से टूटा है वह कागज के पन्नों का ही श्रृङ्गार बनकर रह गया है। अस्तु, साहित्य को जनभाषा के संपर्क में रखने की स्थायी प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाला प्रगतिवाद इस दृष्टि से चिर-स्मरणीय है। इस युग में शब्द-चयन, प्रतीक-विधान, अभिव्यंजना-शैली सबके सब बदल गये और अन्तिम चरण में हिन्दी को वह काव्य-विधा प्राप्त हुई *जिसने आगे चलकर नई कविता मे मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक यथार्थ को प्रतिबिंबित करने की क्षमता प्रदान की। अतः प्रगतिवाद शिल्प-विकास की दृष्टि से गतिशील कहा जायेगा।

कला के क्षेत्र में व्यंग्य प्रगतिवाद की महत्वपूर्ण देन है। निराला, नागार्जु केदारनाथ अग्रवाल प्रभृति कवियो के व्यंग्य बड़े तीखे और कलात्मक बन पड़े है व्यग्य का उपयोग प्रधानतः सामाजिक, धार्मिक तथा शासन सम्बन्धी रूढ़ियो, रीति नीतियों के खोखलेपन को उधेरने में हुआ है। जहां बुराइयां है, दुर्बलताएँ हैं व सीधा प्रहार करने से अधिक कारगर व्यंग्य प्रहार प्रमाणित होता है। कारण स्पष्ट है। सीधे प्रहार में कला पिछड़ जाती है जबकि व्यंग्य सहज कलात्मक होने अत्यधिक तीक्ष्ण हो उठता है। प्रगति-युग के पहले हिन्दी कभी भी इतनी प्रभू माला मे व्यंग्य प्रयोग से समृद्ध नही हो पाई थी। अतः प्रगतिवाद की व्यंग्य प्रधा रचनाएँ अपना विशिष्ट महत्व रखती हैं।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अपनी न्यूनताओं और विशिष्ट ताओं—दोनों के कारण ही प्रगतिवाद चर्चा का विषय बना रहा। एक राजनीतिव वाद का पल्ला पकड़ कर भी साहित्य गगन मे छा जाना साधारण बात नही है सच तो यह है कि गुण-दोष प्रत्येक वस्तु में सिक्के के दो पहलू की तरह होते हैं। वैसे तो संसार ही गुण-दोषमय है। इसलिये हमारा दायित्व यही है कि दोषों की ओर से आंख न मूंदते हुए गुणों को उजागर करें। यह पृष्ठ मेरे इस प्रयत्न के प्रमाण है।

• •



डॉ० सुरेन्द्र प्रसाद

जन्म : सन् १९३४ ई०

जन्म स्थान : ग्राम—नारायणपुर डेढ़पुरा (जिला-वैशाली)

शिक्षा : एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशित रचनाएँ : तिमिरांचल (काव्य)
एक और लहर हाथ की (काव्य)

सम्प्रति : बलिराम भगत महाविद्यालय, समस्तीपुर के हिन्दी-विभाग में ।